साहित्य-समीक्षाञ्जलि

[उच्चकोटि के साहित्यिक २० निबन्धों का संकलन]

सम्पादक—

डा० सुधीन्द्र एम० ए० पी० एच० डी०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

निवेदन

—:※:??:※:—

हिन्दी में उच्चकोटि के विद्वानों के लिखे अपने-अपने साहित्यिक लेखों (निबन्धों) के संकलनों की कमी नहीं है, परन्तु ऐसे संग्रहों की कमी अवश्य है जिनमें भिन्न-भिन्न विद्वानों के श्रेष्ठ साहित्यिक निबन्धों का संचयन सुलभ हो। यह संग्रह, साहित्य के कुछ सामान्य किन्तु गम्भीर विषयों पर लिखे गये ऐसे ही ३० निबन्धों को प्रस्तुत करता है।

साहित्य का क्षेत्र विशाल और व्यापक है, उसके अन्तर्गत विषयों की कोई इयत्ता नहीं, अतः ऐसा संग्रह पूर्ण होने का तो दावा कर ही नहीं सकता, फिर भी इसमें यह प्रयत्न अवश्य है कि एक ही संकलन में विविध आवश्यक साहित्यिक विषय समाविष्ट हो सकें। ये निबन्ध हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में ही पढ़े जाने चाहिए।

इस संग्रह के लिए अपने निबन्धों को प्रदान करने की आज्ञा के लिए लेखक विद्वान लेखकों का ऋणी है। वे संकलनकर्ता के मित्र, स्नेही, श्रद्धेय और शुभचिंतक हैं—परन्तु इससे उनकी इस कृपा का मूल्य और महत्त्व कम नहीं हो जाता, वरन् बढ़ता ही है क्योंकि इस संग्रह के द्वारा साहित्य के अध्येताओं और अनुरागियों को भी विशेष लाभ होगा।

प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य समीक्षाञ्जलि' तो भारती के चरणों में एक विनम्र प्रणामाञ्जलि है। वस्तुतः कितने ही संग्रहों की आवश्यकता स्पष्ट है। आशा है मैं अगला संग्रह भी शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर सकूँगा जो कि इस शृङ्खला की दूसरी कड़ी होगी।

रामनवमी :
'कृष्णायन'
—आगरा

विनीत—
सुधीन्द्र

विषय-सूची

साहित्य-समीक्षाञ्जलि

रायकृष्णदास—

कला की भारतीय परिभाषा और उसके सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण

परम आनन्द की उपलब्धि, केवल अनुभूति ही नहीं, वास्तविक उपलब्धि, भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदायों का, सभी दार्शनिक विचारधाराओं का चरम लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में परम तत्त्व, चाहे उसे ब्रह्म कहिए, ईश्वर कहिए, शून्य कहिए या जो भी—यहाँ नामों का झगड़ा नहीं है, आनन्दस्वरूप है—रसो वैसः। गीता में यही बात समझाकर कही गयी है—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं, रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निग्रह से, विषयों और इन्द्रियों के असंयोग की साधना से विषय तो छूट जाते हैं, किन्तु उनसे मिलने वाले रस की लिप्सा दूर नहीं होती, वासना रूप से बनी रहती है। कब तक? जब तक परम रस का साक्षात् नहीं होता। यतः वह परम रस है अतः सारे रस स्वभावतः उसी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। गीता में ही आगे चलकर इसका स्पष्टीकरण किया है—

> सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
> × × × ×
> यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।

अर्थात्, आत्यन्तिक सुख इन्द्रिय सुखों के परे, फलतः बुद्धिगम्य है, और वह सुख ऐसा है कि उसमें स्थित हो जाने वाले को भारी-से-भारी दुःख भी विचलित नहीं कर पाता।

ऐसी बुद्धिग्राह्य, बुद्धिगम्य सुख की अभिव्यक्ति का साधन कला है। कलाकार अपनी कृति द्वारा उस परम रस का, उस आत्यन्तिक बुद्धिग्राह्य सुख का एक मूर्त्त प्रतीक प्रस्तुत कर देता है। और, ऐसे प्रतीक की उपासना द्वारा, आराधना द्वारा, सेवा द्वारा रसिक सहृदय उस परमानन्द का स्पर्श पाता है।

भारतीय दृष्टिकोण से कला की यही परिभाषा हो सकती है। हम केवल उसके लक्ष्य से ही यह लक्षण नहीं बना रहे हैं। काव्य की जो परिभाषा

अपने यहाँ है उसे यदि व्यापक रूप से लगाइये तो वह काव्य की ही परिभाषा नहीं रह जाती; चित्र, मूर्ति, कविता, संगीत आदि कलामात्र की परिभाषा हो जाती है। वस्तुतः कलामात्र की परिभाषा को ही काव्य की परिभाषा बनाने के लिए, एक देशीय रूप देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। अर्थात्, काव्य की परिभाषा की पूर्ण व्याप्ति तभी होती है जब हम "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के स्थान पर—"कृतिरसात्मिका कला" कहें या "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" के बदले "रमणीयार्थप्रतिपादिका कृतिः कला"।

हम अपने मनसे ऐसा कहते हों, सो बात नहीं। अन्य कलाओं की जो प्रामाणिक मीमांसा अपने प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है, उनमें वे रस की अभिव्यक्ति का साधन ही मानी गयी हैं। कई ग्रन्थों से ऐसे प्रमाण उद्धृत न करके हम विष्णुधर्मोत्तर पुराण के ही अवतरण यहाँ देना चाहते हैं क्योंकि, एक तो वह ग्रन्थ काफी प्राचीन, आरम्भिक मध्यकाल का अर्थात् सातवीं-आठवीं शती का है। दूसरे, इसमें यह विशेषता है कि काव्य (श्रव्य तथा दृश्य) गान, नृत्य-अभिनय, चित्र और मूर्ति को कलाओं की एक इकाई मानकर उनके प्रकरण एक ही ठिकाने दिये गये हैं। अन्य ग्रन्थों में यह बात नहीं है। या तो वे अपने अपने विषय के स्वतन्त्र शास्त्र हैं या यदि कहीं उनकी एक सङ्ग चर्चा है तो वह विष्णुधर्मोत्तर पर ही अवलम्बित है। फिर, चित्रकला पर तो अभी तक कोई ग्रन्थ भी नहीं मिला है। हाँ, आरम्भिक ११ वीं शती के अभिलषितार्थ चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में स्पष्ट करके कहा है कि रस चित्रों से रसों की अभिव्यक्ति होती है, देखते ही दर्शक का उन रसों से तादात्म्य हो जाता है।

अस्तु विष्णुधर्मोत्तर के उक्त कलाओं के सम्बन्ध वाले कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

नाट्य नव-रसमय है—

श्रृङ्गार हास्य करुणा वीर रौद्र भयानकः।
वीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव नाट्यरसाः स्मृताः॥

गान तो रसपरक है ही, उसके स्वर और लय तक रसपरक हैं।

पूर्वोक्ताश्च नव रसाः। तत्र हास्यश्रृङ्गारयोर्मध्यम-पंचमौ। वीररौद्राद्भुतेषु षड्जपंचमौ। करुणे निषादगान्धारौ। वीभत्सभयानकयोर्धैवतम्। शान्ते

मध्यमम् । तथा लयाः—हास्यशृङ्गारयोर्मध्यमाः । बीभत्स-भयानकयोर्विलम्बितम् । वीररौद्राद्भुतेषुद्रुतः ।

नृत्त—

रसेन भावेन समन्वितं च, तालानुगं काव्यरसानुगञ्च ।
गीतानुगं नृत्तमुशन्तिधन्यं सुखप्रदं धर्मविवर्धनञ्च ॥

चित्रों में भी—

शृङ्गार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव चित्र-रसाः स्मृता ॥

और प्रतिमा तो शिला, लकड़ी या धातुओं में निर्मित चित्र ही है—

यथा चित्रं तथैवोक्तं खातपूर्वं नराधिप ।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लौहेषु कारयेत् ।
शिलादारुषुलौहेषु प्रतिमा करणं भवेत् ॥

इन वाक्यों से जब यह बात निर्विवाद हो जाती है कि उक्त कलाओं का उद्देश्य भी रसों की अभिव्यक्ति ही है तब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारे यहाँ की काव्यवाली उक्त परिभाषाएँ, जो तत्त्वतः एक ही हैं, कला की ही व्यापक परिभाषा का एकदेशीय रूप हैं ।

जब ऐसी बात है तो उस परिभाषा में ही इस प्रश्न का उत्तर भी निहित है, कि हमारे प्राचीनों की कला के सिद्धान्त (थियरी) और प्रयोग (प्रैक्टिस, ऐप्लिकेशन) के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण था । जब कला रस की अभिव्यक्ति है, रमणीयता की अभिव्यक्ति है तो उतने में ही उसके उद्देश्य और सिद्धि दोनों की, परिभाषा प्रतिपादित हो जाती है । अर्थात् , सिद्धान्त की अवस्था में भी कला किसी रसात्मक, रमणीयात्मक अभिव्यक्ति का नाम है और प्रयुक्त होने पर, काव्य, गान, नाट्य, चित्र या प्रतिमा का रूप पाकर स्फुट होने पर, मूर्त होने पर भी रस की, रमणीयता की ही अभिव्यक्ति है । तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम 'कला, कला के लिए' (आर्ट फॉर आर्टस् सेक) मानने वाले थे । मुझ से पूछा जा सकता है—"और, काव्यं यशसे, अर्थकृते, व्यवहार विदे ······ ?"

अधीर न हूजिए । तनिक इस पर तो विचार होने दीजिए । 'रस अथवा रमणीयता की अभिव्यक्ति' का तात्पर्य क्या है ? 'कला-कला के लिए' है क्या बला ? ये 'यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे' आदि तो कला के अवान्तर, बिलकुल निम्न स्तर के उद्देश्य हैं । कोई कलाकार यश के लिए, अपनी कृति

तैयार करता है, कोई जीविका अर्जन के लिए, कोई लोक को विलक्षण बनाने के लिए। किन्तु यह सब वह तभी न कर सकेगा जब उसमें निर्माण की क्षमता होगी; साथ ही वह निर्माण रसीला होगा। दूकान कितनी ही ऊँची क्यों न हो, मिठाई फीकी हुई तो ग्राहक वहाँ क्यों पहुँचने लगे।

कला से हमें रस क्यों मिलता है? इसलिए कि वह कलाकार की अनुभूति का स्वान्तः सुख है जो उसमें समा नहीं सकता, मूर्त रूप में उमड़ पड़ता है। मधुमक्खी स्वयं रस का अनुभव करती है, उसका संचय करती है और फिर उसका मधुकोष बनाकर वितरित करती है। कलाकार का मधुकोष है उसके हृदय की वेदना, उसके हृदय की तड़प। वह हृदय जो विश्व के कण-कण के लिए उन्मन हो रहा है, द्रवित हो रहा है, जो अपनी उदार बाँहें पसारकर निखिल ब्रह्माण्ड को परिवेष्टित करने में समर्थ है, समर्थ ही नहीं है, सचमुच उसका आश्लेष करके आनन्द में विभोर है।

वाल्मीकि के ऐसे ही विगलित हृदय ने—

मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः,
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

के रूप में सहसा अपनी अभिव्यक्ति की थी।

इसी कारण भवभूति का तो यहाँ तक दावा है कि—एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्। अर्थात् निमित्त-भेद से एक करुण रस ही, मानों भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है। 'मानों' शब्द के बल को तो देखिये। कवि यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं कि ये रूप पृथक्-पृथक् हैं; ये हैं करुण रस के ही आकार, लगते-भर हैं अलग-अलग। वस्तुतः यह दावा है भी एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक। आइए, उदाहरणों से इस तथ्य पर विचार करें।

कल्पना कीजिए कि एक पक्का जुआरी है, जिसने कौड़ी की लत के पीछे घर की कौड़ी-कौड़ी फूंक डाली है। पत्नी के तन पर से एक-एक छल्ला तक उतरवा लिया है। छोटे-छोटे बच्चे दाने-दाने को बिलख रहे हैं। सारा परिवार कष्ट और दुर्दशा में निमग्न है। फिर भी वह जुआरी अपने नशे में मस्त है और उसके लिए पैसे का प्रबन्ध करने के लिए जघन्य-से-जघन्य, भीषण-से-भीषण कर्म कर डालता है। समाज उसे नारकीय कहेगा, जाने किस-किस प्रकार दण्डित करना चाहेगा; किन्तु कलाकार का दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि-से भिन्न है। वह दुष्कर्म से घृणा करता है किन्तु दुष्कर्मी के प्रति, उसकी बेबसी के कारण कलाकार की सहानुभूति है, उसका हृदय रो उठता है। इसी

प्रकार किसी चोर, हत्यारे, कुलटा, सामान्या, स्वेच्छाचारी, आततायी, अत्याचारी इत्यादि-इत्यादि का पतन कलाकार के लिए दया का विषय है, करुणा का विषय है।

प्रेम की टीस, मुहब्बत का दर्द जिसके कारण स्त्री पुरुष पर, पुरुष स्त्री पर, माता पुत्र पर, सेवक स्वामी पर और भक्त भगवान् पर, निछावर हो जाता है किंवा, वही टीस जब उत्साह के रूप में परिणत होकर युद्धवीर को अपनी जान पर खेल जाने के लिए प्रेरित करती है, दानवीर को अपना सर्वस्व दे डालने के लिए उद्यत करती है वा दयावीर से शरीर उत्सर्ग करा देती है, तो प्रेम की इस अमायिकता से भी, जिसमें आदर्श और सौन्दर्य का भेद नहीं रह जाता, कलाकार विगलित हो उठता है और उसकी कृति में एक तड़प कौंध उठती है। अथवा, यों कहिये कि प्रेम की उस टीस से उसके हृदय की एकतानता हो जाती है जिसे वह अपनी कृति के मूर्त्त रूप में अभिव्यक्त करता है। करुण रस की यह व्यापक परिधि हम इतनी विस्तीर्ण कर सकते हैं कि उसमें सभी रसों का समावेश हो जाय। किन्तु, जो उतना मानने के लिए प्रस्तुत न हों उनके लिए इतना ही अलम् होगा कि कलाकार की प्रत्येक कृति एक सहानुभूतिमय अभिव्यक्ति है।

कलाकार को यह तथ्य अवगत है कि अशोभन में भी भगवान् की रचना की एक शोभा है, सुकुमारता है, जिसे शोभन के साथ निरखकर ही लीलामय की इस अनन्त लीला का पूरा-पूरा रस मिल सकता है। अथवा यों कहिये कि कलाकार के लिए परमात्मा की रचना कहीं से भी अशोभन नहीं। इस तत्व को वह जानता-मानता ही नहीं बल्कि हमें प्रत्यक्ष कर दिखाता है।

ऐसी रचना के लिए किसी दूसरे लक्ष्य की अपेक्षा नहीं रह जाती वह स्वतःपूर्त्ति है। निरुद्देश्य निर्माण है, अतः 'कला के लिए कला' है।

कला को रसात्मक अथवा रमणीय कृति बताकर हमारे यहाँ यही सिद्धांत स्वीकृत हुआ है, यह कहने में मुझे तनिक भी आगा-पीछा नहीं। किन्तु, शर्त यह है कि वह कृति रसात्मक हो। कलाकार जिस प्रकार एक सरस घनघटा को अङ्कित करता है, उसी प्रकार एक धूल-भरी आँधी को भी तो प्रत्यक्ष कर दिखाता है। उसकी घटा को निरखकर जिस प्रकार हमारा मनोमयूर नाच उठता है उसी प्रकार उसकी आँधी का अनुभव करके मानो हम गर्द से नहा उठते हैं, नाक में धूल भर जाने से हमारा दम घुटने लगता है, आँखों में किरकिरी पड़ जाने से वे गड़ने लगती हैं। जब वह हमें एक हरा-भरा निकुञ्ज

दिखाता है तो हमारी आँखें विश्राम पाती हैं एवं हमारा हृदय शीतल हो उठता है, और इसके विपरीत एक सूखे ठूँठे वृक्ष का अङ्कन (भले ही वह शब्द-चित्र, स्वर चित्र, वा वीक्ष्य-चित्र हो) हमें उदास कर देता है। ये उदाहरण हमने इसलिए लिये हैं कि कलाकार की अनुभूति, सहानुभूति और अभिव्यक्ति का परिमण्डल मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं, सारा चराचर, विश्व ब्रह्माण्ड, सो भी केवल बाहरी नहीं, अपितु, उसका कारणभूत अन्तर्विश्व ब्रह्माण्ड तक, कलाकार के परिमण्डल के अन्तर्गत है।

परन्तु, यदि वह कृति ऐसी है कि हम आँधी के संग स्वयं धूल-धक्कड़ बनकर बिना किसी और ठिकाने के उड़ने-पुड़ने लगते हैं वा एक ठूँठ बन जाना पसन्द करते हैं तो वह कलाकृति नहीं, वह उसके विपरीत है। वह सात्विक आहार नहीं है जो आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाता है। स्नेहपूर्ण, सरस, स्थायी और हृद्य है। वह, वह राजस और तामस आहार है जो तीखा है, चरपरा है, नमकीन है (सलोना नहीं), रूखा, ऊष्ण और विदाहक है। वह सड़ा-गला, घिनौना, दुर्गन्धित, जूठा-कूठा और बासी-तिबासी है। वह अमेध्य है। "रसौ वै सः" का नैवेद्य नहीं हो सकता।

क्या एक विलासी वा विलासिनी का वासनामय चित्रण कला व शृङ्गार रस है? वह अत्यन्त प्रीति (रति) को तो प्रस्फुटित नहीं करता, हमारे भीतर एक आग अवश्य भड़का देता है। प्रीति की पराकाष्ठा तो उस विरही राम में है जो सीता के अभाव में, अपनी यज्ञ-क्रिया तक में जिसमें अर्द्धाङ्गिनी का होना अनिवार्य है, दूसरी पत्नी का वरण नहीं करता, उनकी स्वर्ण-प्रतिमा बनाकर ही कर्म-काण्ड का थोथापन पूरा करता है। वही कहने का अधिकारी है—'अहो विरहजं दुःखं एको जानाति राघवः'। विरह ऐसे को न होगा तो क्या बहुनायक को होगा? रस की रमणीयता की यह पराकाष्ठा है। सौन्दर्य की यह परि सीमा है, जहाँ सौन्दर्य और आदर्श का अभेद है।

जिस समय गुप्तजी के द्वापर की राधा कहती है—

> शरण एक तेरे मैं आई
> धरे रहे सब धर्म हरे,
> बजा तनिक तू अपनी मुरली
> नाचे मेरे मर्म हरे!

वा कुब्जा कहती है—

तेरी व्यथा बिना, सुन मेरी
कथा न पूरी होगी ;
तू चाहे जिसका योगी हो
मेरा क्षणिक वियोगी।
तेरे जन अगणित परन्तु मैं
एक विजतना तेरी ;
बस इतनी ही मति है मेरी,
इतनी ही गति मेरी।

उस समय क्या कला और आदर्श की पूर्ण अद्वैतता नहीं हो जाती ?

ऐसी अभिव्यक्ति हो तो वह निस्संदेह रसीली है, रमणीय है। यही है आत्यन्तिक सुख, बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय, ब्रह्मानन्द का प्रतीक।

यहाँ काका कालेलकर का एक अवतरण दिये बिना मन नहीं मानता, "......इस प्रश्न को लेकर काफी चर्चा हुई है कि कला में नग्नता का दर्शन कराया जाय या नहीं।.......पुराने जमाने में हमारे तान्त्रिकों ने नग्नता की उपासना कुछ कम नहीं की है और हम उसके परिणाम भी देख चुके हैं; हमारी भाषा का निन्दित अर्थ में व्यवहृत होने वाला 'छाकटा' 'शाक्त' शब्द पर से ही बना है, और यही इस प्रश्न का यथेष्ठ उत्तर है। लेकिन नग्नता में भी पूर्ण पवित्रता का दर्शन कराया जा सकता है। दक्षिण भारत में भद्रबाहु, बाहुबलि, गोम्मटेश्वर की नंगी मूर्त्तियाँ हैं। ये इतनी बड़ी और विशाल हैं कि कई मील की दूरी से लोग इन्हें देख सकते हैं, पर इन मूर्तियों के चेहरों पर मूर्तिकारों ने ऐसा अद्‌भुत उपशम भाव दरसाया है कि वह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की ही दीक्षा देती है।

इस प्रकार कला जब तटस्थता से रस के निदर्शन के लिए ही कोई अभिव्यक्ति करती है तभी वह कला कहलाने की अधिकारिणी है। और उस समय उसके उद्देश्य और सिद्धि में अभेद हो जाता है—"जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई"। इसी दृष्टि से हमारे पूर्वजनों ने कला को देखा है। उनकी उस दृष्टि को यदि हम आजकल के शब्दों में अनूदित करें तो वह 'कला कला के लिए' के अतिरिक्त और क्या है ?

यह समझना भूल होगी कि प्राचीनों की उक्त कला-परिभाषा एवं कला-विषयक दृष्टिकोण एक पुरातन सिद्धान्तमात्र है। वह चिर सत्य अतएव नित्य अद्यतन है।

प्रोफेसर श्रीनिवास चतुर्वेदी एम० ए० शास्त्री—

साहित्य-कला

साहित्य देश की तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिविम्ब है और इस कारण जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता रहता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा वैयक्तिक परिस्थिति के अनुरूप भावों का उद्बोधन एवं प्रकाशन और संचयन होता है। साहित्य निर्माण में इस कारण ऐतिहासिक घटनाओं का पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। और इस कारण साहित्य को 'जीवन की व्याख्या' कहा गया है। विषय और भाव-कला इसके प्रधान अंग हैं। वैय-क्तिकता और स्वामित्व इसके वास्तविक स्वरूप हैं। सहानुभूति प्रधान उपकरण है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन आदि इसके विविध विभाग हैं। साहित्य के काव्य और विज्ञान दो विशिष्ट भेद हैं। एक में कल्पना का साम्राज्य है तो दूसरे में कर्म का। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत हैं। विज्ञान का उत्पादान वहिर्जगत् है। कुछ लोग कल्पना को सत्य का विरोधी मानते हैं परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि कल्पना नितान्त निराधार नहीं हो सकती। अस्तित्व-रहित पदार्थ की कल्पना कैसे की जा सकती है, उसका आश्रय तो सत्य होना ही चाहिए। लेखक का कलानैपुण्य उसकी कृति से ज्ञात होता है। मनुष्य में जिन नैतिक वृत्तियो का विकास होता है वे समाज का ही फल हैं। समाज में परिवर्तन के साथ साथ ये वृत्तियाँ परिवर्तित रूप ग्रहण करती चली जाती हैं। इसलिए साहित्यकार को समाज से विशेष संपर्क रखना अनिवार्य्य है। क्योंकि उसका वैयक्तिक तथा अपना सामाजिक जीवन जिन-जिन बातों को सत् अथवा असत् श्रेय अथवा प्रेय, गेय अथवा हेय मानता है उन्हीं बातों का तदनुरूप दिग्दर्शन वह अपनी रचनाओं में स्वभावतः करता है। समाज की धारणा पर मनुष्य की आचार-विवेकिनी बुद्धि केन्द्रित रहती है। अतएव साहित्य में अङ्कित सदाचार का चित्र उस काल विशेष के समाज का यथावत् प्रतिबिम्ब माना जाता है और उसी माप से उसका उत्कर्षापकर्ष आँका जाता है। सत्साहित्य वास्तव में वही कहा जा सकता है जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष ही नहीं, जन समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो। सत्साहित्य से ज्ञान की वृद्धि और सद्-

भाव का प्रचार होना चाहिए। साहित्य का एक मात्र ध्येय मानव-जीवन की परिपूर्णता तथा उस ओर प्रवृत्ति को उत्साहित करना है। साहित्य का उद्देश्य ज्ञान-प्रसार है। मनुष्य के अन्तर्हित भावों का अन्तस्थल से निकल कर यथेष्ट रूप में प्रत्यक्षीकरण ही साहित्य निर्माण का सोपान है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है। जिस वर्णन से हमें मानवी परिस्थितियों का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतने ही अच्छे साहित्य-निर्माण का साधन बन जाता है।

काव्य साहित्य का एक अङ्ग है जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है। इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। प्रत्येक तत्ववेत्ता ने अपनी-अपनी मति के अनुरूप इसको सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु काव्य-कला-निष्णात विद्वानों को कभी दूसरे की निश्चित की हुई परिभाषा से परितोष नहीं हुआ। प्रत्येक परिभाषा में कुछ न कुछ न्यूनाधिक भाव झलकने ही लगता है, बस यही उसकी अपूर्णता का आधार बन कर विज्ञ महानुभावों के असन्तोष का पर्याप्त साधन बन जाता है। अतएव उत्कट परिश्रम और गम्भीर योग्यता पूर्वक समय-समय पर विभिन्न देशों के विभिन्न विद्वानों ने सराहनीय प्रयत्न किये हैं। 'भिन्नः रुचिर्हि लोकाः'। लम्बी-लम्बी सतर्क संयुक्त परिभाषाएँ समय-समय पर निर्माण की गईं परन्तु किसी देश में अथवा किसी काल में किंवा किसी भाषा में सर्वमान्य परिभाषा कोई निश्चित न की जा सकी; तथापि अधिकतर ग्राह्य और उल्लेखनीय कतिपय परिभाषाओं, का दिग्दर्शन कराना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

श्री मम्मटाचार्य काव्य-प्रकाश में 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' कह कर शब्द और अर्थों में दोष का न होना और गुणों का विद्यमान रहना आवश्यक समझते हैं।

भोजदेव ने सरस्वती कण्ठाभरण में 'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् रसात्मकम्' आदि लक्षण की प्रधानता मानी है। उनके अनुसार दोष का न होना, गुण का होना, अलङ्कारपूर्ण और रसमय होना काव्य का लक्षण है।

जयदेव 'चन्द्रालोक' में 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता। सालंकाररसानेकवृत्ति वा काव्यनाम भाक्' कहकर निर्दोष लक्षणवती रीति गुण अलंकार और रस सहित वाक्य को काव्य मानते हैं।

'त्रिशूली' पण्डितराज जगन्नाथ जी अपने रसगङ्गाधर नामक सुप्रसिद्ध

ग्रन्थ में 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्', अर्थात् रमणीय अर्थ प्रकट करना काव्य का अनिवार्य लक्षण मानते हैं। इसी का मानो अनुवाद बाबू जगन्नाथदास बी० ए० ने 'साहित्य रत्नाकर' में 'होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय' किया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ जी 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' कह कर रस अर्थात् लोकोत्तर आनन्द जिस कथन में प्राप्त हो उसी को ही काव्य मानते हैं।

भाषा के आचार्यों ने इसी अन्तिम मत को प्रायः अंगीकार किया है।

हसरत मोहानी ने भी 'शेर दर असल वही है हसरत सुनते ही दिल में जो उतर जाय' कह कर कविता को हृदय का विषय माना है। वह काव्य ही नहीं जो हृदय में लोकोत्तर आनन्द की स्फूर्ति न जगा दे, जो श्रोताओं को लोट-पोट न कर दे। जो नयी भावना का अंकुर खड़ा न कर दे, जिसमें चमत्कार या आकर्षण शक्ति न हो। पाश्चात्य विद्वानों ने भी कविता के स्वरूप पर पृथक् भाव दर्शाये हैं। ये स्थानाभाव के कारण संक्षेप में दिये जाते हैं :—

जानसन—कविता पद्यमय निबन्ध है।

मिल्टन—कविता वह कला है जिसमें कल्पना-शक्ति विवेक की सहायता लेकर सत्य और आनन्द का परस्पर संमिश्रण करती है।

अरिस्टाटल—आदर्श चित्रण को ही कविता कहते हैं।

शैली—कविता विश्व के गुप्त सौन्दर्य-भण्डार की झांकी कहाती है।

वर्डस्वर्थ—शान्त एकान्त क्षण में अनुभूत मनोभाव ही काव्य है।

असंख्य आचार्यों और कवियों के मत इस सम्बन्ध में एकत्र किये जा सकते हैं परन्तु प्रधानता की दृष्टि से बानगी के रूप में उपर्युक्त संक्षेपतः उपस्थित किये गये हैं। काव्य का एक अंश गीतिकाव्य है जिसकी महिमा काव्य-क्षेत्र में अनोखी ही है। ब्रजभाषा के साहित्य-सूर्य सूरदास ने इसी शैली को अपनाया है। अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान अजर-अमर है। उनकी सूक्तियाँ केवल हिन्दी-भाषा के साहित्य को ही अलंकृत नहीं करतीं प्रत्युत विश्व-साहित्य में सदा-सर्वदा उत्तुङ्ग आसन पर विराजमान् रह कर समग्र भाषाओं के साहित्य को गौरवान्वित करेंगी। सूर का वात्सल्य रस तो अपूर्व ही है। उनका उपालंभ दिलाने का रूप निराला ही है। विनय में उनका दैन्य और ढिठाई दोनों ही दर्शनीय हैं। रूप और विरह-वर्णन अप्रतिम है। कला की दृष्टि से तो इनका कहना ही क्या है। उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं तथा

स्वभावोक्तियों की तो मानों त्रिवेणी उनके सूरसागर को प्रयागराज का विशुद्ध रूप दे रही है। विनय की सप्त-भूमिकाएँ उनके पदों में सुलभ हैं। 'वात्सल्य' तो मानों इनका नामान्तर ही है। इसका तो सजीव चित्रण करने में वे सिद्ध हस्त हैं। रूप माधुरी वर्णन में सर्वाङ्गरूपक, उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की भरमार है और 'मनोहारिता' प्रत्यक्ष है। 'मुरली' में कला का निदर्शन प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। लोक-मर्यादा के अनुरूप शृङ्गार की यहाँ पराकाष्ठा है। 'विरह' में विप्रलंभ-शृङ्गार लोक-मर्यादा से सुसीमित होते हुए करुणरस से छलछला रहा है। 'भ्रमर-गीत' में प्रेम भक्ति द्वारा ज्ञानयोग का पराजय मनन करने योग्य है "मुकुति आनि मन्दे में मेली" भक्ति के आगे भुक्ति और मुक्ति कोई चीज ही नहीं मानो बिहारी के शब्दों में सूरदास ने गोपियों द्वारा उद्धव से यह कहलवा दिया है कि "धोबी और कुम्हारों की बस्ती वाले हाथियों का व्यापार करना क्या जानें।" भक्ति में सराबोर और तल्लीन गोपियाँ हाथी पाकर शुष्क ज्ञान रूपी धोबी और कुम्हारों के आभरण गर्दभ को लेकर क्या करेंगी। ऊधो को खिसिया कर मुँह की खानी पड़ी और मनमुग्ध चकित होकर निराश लौटना पड़ा। इस गीति-काव्य का आश्रय हिन्दी-भाषा के 'चन्द्र' तुलसी ने भी खूब लिया है। उनने सब शैलियां तथा सब रसों को अपनाया। वे प्रकृति और मानव घटनाओं के अन्त-स्तल में पहुंचे हैं। "मानव-जीवन की जितनी अधिक दशाओं के साथ हम गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामञ्जस्य पाते हैं उतना और किसी कवि के हृदय का नहीं। उनका प्रकृति-वर्णन हृदयग्राही और मनोरम हुआ है।" क्या रसों का निरूपण, क्या चरित्र-चित्रण, क्या बाह्य-दृश्यों का वर्णन, क्या अलङ्कारों की योजना और विचित्र उक्तियों के साथ किसी कथानक का निर्वाह, क्या भाषा और भाव, सभी दृष्टियों से गोस्वामी 'तुलसीदास' की अमृतमय छटा सर्व हृदया-ह्लादकारी, मनोरम तथा पीयूषपूर्ण है। वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्यवाणी में दिखाकर साहित्य क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए हैं। मैथिल कोकिल विद्यापति की गीतिमय कोमल कान्त पदावली जग जाहिर है, मीराबाई का गीत 'मेरे तो गिरिधर गुपाल और दूसरा न कोई' और (मीरा) 'मन मन्दिर में मोहन मूर्ति मनोहर सोहै' आज भी कानों में गूँज रहे हैं। इस प्रकार ज्ञानाश्रयी और विशेषतः भक्तिमार्गी कवियों ने गीति-काव्य को अपनाकर इसकी चमत्कारपूर्ण शक्ति को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया है। केवल हिन्दी-भाषा ही नहीं, संस्कृत साहित्य ही नहीं वरन् समस्त देशों के समस्त कालों के साहित्य में गीतकाव्य

अपनी प्रधानता रखता है क्योंकि साहित्य और संगीत का ऐसा ही चोली-दामन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भक्तों के लिए तो यह शैली मानो अमरमूरि ही है। इसी कारण क्या सभ्य क्या असभ्य, क्या यह देश क्या दूसरे, क्या यह युग क्या प्राचीन सब कालों में तथा सर्वत्र साहित्य की श्रीवृद्धि का सुखकर सुयश इसी गीति-काव्य को प्रचुरता से मिला है। ग्राम्य-जीवन का तो मानो यह एक अनिवार्य्य अनिर्वचनीय अङ्ग ही है। पीसती हुई पिसनहारी, क्या कुएँ पर पानी खींचता हुआ पनिहारा, क्या खेतिहर जहाँ देखो तहाँ गाँवों में इस गीति-काव्य की ही प्रधानता है। इन ग्रामीणों की सन्तोषमयी और सर्व दशाओं में झलकती हुई प्रसन्नता की आभा को देखकर हेनरी अष्टम सदृश सम्राट् को एक साधारण पनचक्कीवाले से हार माननी पड़ी थी और सहसा उसके मुख से निकल पड़ा—

Thy mealy cap is worth my crown,
Thy mill my kingdom's fee,
Such men as thou art England's pride,
Oh miller of the Dee!

यही भावना एक ग्रामगीत की भाषा में भी प्रचलित है। "हीरा पायो-गाँठ गठिआयो बार-बार वाइ जिनि खोले" तथा "मन मुग्धभयो अब क्यों डोले।" ऐसी भावनाओं से ही प्रेरित होकर कबीरसाहब ने 'सुन्दर देह देखि जिनि भूलो झपट लेत जस बाज बटेरा। या देही को गर्ब न कीजै उड़ पंछी बस लेत बसेरा।" आदि कहना योग्य समझा। साराश, गीनि-काव्य का सर्वत्र बोलबाला है। अष्टछाप के कवियो ने ही क्या, सूर, तुलसी, मीरा, पलटू, दादू, कबीर, नानक ने ही क्या जिधर देखो तिधर गीति-काव्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती विस्तृत की है। रासो, क्या आल्हा क्या जीवन-मरण, विवाह उत्सव आदि सभी प्रकार की घटनाओ का इस शैली में ललित वर्णन पाया जाता है। संस्कारों के लिये तो मानो यह सर्वाङ्ग-सुन्दर साधन है। इसी कारण गीति-काव्य का हमारे ग्रामों में इतना आदर और स्वाभाविक सम्पर्क है। इन गीति-काव्यों द्वारा कितना अधिक, कैसा उत्तम, कितना ललित, कैसा आनन्दमय कितना उपयोगी और उपकारी साहित्य निर्माण हुआ तथा होता रहता है यह सर्वथा सर्वग्राह्य एवं मनोरम है। अनेक पुस्तकों से एक विशेष प्रकार से साहित्य निर्माण में सहायता पहुँचती है। इस हेतु ग्रामीण पद भी संग्रह किए गए है। इन पदो मे जीवन के विशेष सस्कारों, विशेष उत्सवों, विशेष प्रसंगो का विशेषरूप में वर्णन पाया जाता है। कितनी रोचकता है

इनमें। भरी हुई भावुकता, परिपूर्ण सहृदयता, मार्मिकता, उपयोगिता और उपादेयता सूक्ष्म विचार से स्वयं सिद्ध है। पदों में साहित्यिक उत्कृष्टता प्रकट जानने के लिए उनकी भाषाओं का किंचित इतिहास तथा स्वरूप जानना सामयिक प्रतीत होता है।

यह बात तो निर्विवाद सिद्ध ही है कि शिक्षित समुदाय और ग्रामीणों की भाषा में अन्तर सदा रहा है तथा रहेगा और रहना स्वाभाविक ही है। वैदिक-काल से आज पर्यन्त यह नियम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता आया है। जब वैदिक भाषा साहित्यिक भाषा थी तब उससे मिलती-जुलती विकृत प्राकृत जन-समुदाय की भाषा थी जिसे विद्वान् लोग 'प्रथम प्राकृत' कहते हैं। जब संस्कृत भाषा साहित्यिक भाषा हुई तब प्राकृत साधारण मनुष्यों की भाषा हुई। 'पाली' प्राथमिक प्राकृत का शुद्ध एवं विकसित रूप है। बौद्धकाल में जब यह भाषा साहित्यिक रूप में रही तब प्राकृत ने साधारण वर्ग को आश्रय दिया। आगे चलकर पंच प्राकृतें ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रकट हुईं तब अपभ्रंश भाषा बोली जाने लगी। इस समय में देश कई भागों में विभक्त हो गया था इस कारण भाषा में भी विभिन्नता आ गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की अपभ्रंश ने साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया और इसी कारण इनसे उत्पन्न हिन्दी भाषा का जन्म हुआ। सन् ८४२ के लगभग शौरसेनी अपभ्रंश से नागर (१) जो आगरा प्रान्त में प्रचलित थी। (२) उपनागर जो जयपुर, जोधपुर आदि में प्रचलित थी और (३) व्राचड़ जो राजपूताने के पश्चिम-भाग में तथा सिन्धमें प्रचलित थी निकलीं। नागर अपभ्रंश से व्रजभाषा तथा शौरसेनी अपभ्रंश से खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। समय पाकर यह हिन्दी ही साहित्यिक भाषा हो गई और उसमें वीरत्वपूर्ण काव्यों की रचना हुई इसलिए हिन्दी भाषा के आदिकाल (१०५०-१३७५) तक को वीरगाथा काल कहते हैं। इस काल के ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो, हमीर रासो, खुमान रासो आदि में अपभ्रंश की छाप अवश्य है। ये वीरगाथाएँ प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप जैसे पृथ्वीराज रासो तथा वीरगीतों में (Ballads) के रूप प्राप्य हैं जैसे वीसलदेव रासो। ये काव्य व्रजभाषा प्रधान हैं। इसी काल में अमीर खुसरो ने व्रजभाषा मिश्रित प्रचलित काव्य-भाषा में कविता की है और विद्यापति ठाकुर ने पूर्वी हिन्दी (बिहारी मिश्रित) में। इनके काव्य में शृङ्गार-रस की प्रधानता है और वह उत्तम कोटि की। प्रेममार्गी (सूफी) शाखा में

कुतुबन, मंझन तथा जायसी के नाम उल्लेखनीय हैं। जायसी का पद्मावत हिन्दी भाषा का गौरव है। हिन्दी भाषा का पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल १३७५-१७००) तक उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल १७०० से १९००) तक माना जाता है। पूर्व मध्यकाल के भी दो खण्ड हैं। एक कृष्णावत सम्प्रदाय का जिसमें अष्टछाप के कवि प्रख्यात हैं और सूरदास सिरमौर हैं दूसरे रामावत सम्प्रदाय में तुलसीदास, नाभादास, नरोत्तम आदि प्रसिद्ध कवि हैं। रीतिकाल (१७०० से १९००) में काव्य-रीति का सम्यक प्रतिपादन सर्वप्रथम केशवदास जी ने किया। इन्होंने अलंकारों के निरूपण में दण्डी और रुय्यक का अनुकरण विशेषतः किया है। इस शाखा के अन्तर्गत मतिराम, पद्माकर, बिहारी और देव के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल गद्यकाल १९०० से आज पर्यन्त है। गद्य के विकास की दृष्टि से लल्लूलाल, सदल मिश्र, मुन्शी सदासुखलाल, इन्शा अल्लाखाँ के नाम आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनके समय तक भाषा का पूर्ण संस्कार नहीं हो सका था तथापि इन विद्वानों ने गद्य शैली में युगान्तर उपस्थित कर दिया। अनन्तर राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। राजा लक्ष्मणसिंह जी उर्दू-रहित शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती थे। राजा शिवप्रसाद उर्दू मिश्रित शब्दों का प्रयोग योग्य समझते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन दोनों के मध्य-मार्ग का अनुकरण किया और भाषा को व्यावहारिक रूप दिया। इसी कारण वे आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता कहे जाते हैं। पं० बालकृष्ण जी भट्ट, पं० प्रतापनारायणजी मिश्र आदि विद्वानों ने गद्य को परिमार्जित रूप देने में अथक परिश्रम किया और उसी प्रकार प्रेमघन, बद्रीनारायणजी चौधरी और पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र ने अलंकृत भाषा में भाव-प्रकाशन का बीड़ा उठाया। इस प्रकार भाषा की शक्ति में वृद्धि होती गई और नाना प्रकार के भावों को उनके अनुरूप कलेवर प्राप्त होता गया। पं० माधवप्रसाद मिश्र, बा० बालमुकुन्द, पं० चन्द्रधर गुलेरी, पूर्णसिंहजी आदि के शुभ नाम इस भाषा-यश की श्रीवृद्धि में विशेषतः उल्लेखनीय हैं। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, जिनके नाम के साथ साथ भाषा में युगान्तर अथवा आधुनिक भाषा का विकास संयुक्त प्रायः ही समझा जाता है, विराम आदि चिह्नों के कर्णधार हैं। अब भाषा में विराम, अर्द्धविराम आदि का पूर्ण प्रयोग होने लगा है। और इधर का शब्द उधर नहीं जुड़ने पाता, भाव-साम्य का प्रादुर्भाव और वैषम्य की अच्छी रोक होने लगी है, यथार्थ भाव समझने में सुभीता और सुविधा होती

है। परिमार्जित विशुद्ध और मँजी हुई भाषा में अब अनेक विद्वान् लेख लिखते हैं। व्याकरणजन्य शुद्धि की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। सारांश, भाषा अपने प्रौढ़ स्वरूप को पाकर गर्वगहीली और लचक लचीली चाल से उन्नति-पथ पर झूमती-झामती बढ़ती चली जा रही है। रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास जी और काशी-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भाषा-क्षेत्र में अच्छा अनुसंधान, संशोधन, ग्रन्थ-निर्माण आदि का कार्य हुआ है। भाषा में अब अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थों और ग्रन्थमालाओं की रचना हो रही है और हिन्दी भाषा में सुन्दर सुरुचिपूर्ण उत्तम कोटि के सर्वांगीण ग्रन्थों की रचना दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। नाटक, काव्य, कोष, आलोचना आख्यायिका, निबन्ध, साहित्यिक पत्रिकाएँ, दैनिक पत्र, परिभाषिक शब्दों का संकलन और संचयन आदि सब अंगों की ओर विद्वानों का ध्यान सम्यक् आकर्षित हो गया है और वे दत्तचित्त होकर प्रखर परिश्रम में प्रवृत्त हैं। काव्यालंकार के क्षेत्र में छन्द प्रभाकर, काव्यप्रभाकर, काव्यकुसुमाकर, भारती भूषण, काव्यकल्पद्रुम, भाषा के गौरव को अच्छा बढ़ा रहे हैं। ग्राम-गीतों की ओर श्री सूर्यकरणजी पारीख तथा पं० रामनरेशजी ने अच्छा प्रयत्न किया है। ग्रन्थ मालाओं के क्षेत्र में मनोरंजन पुस्तक माला, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, गङ्गा पुस्तकमाला, सस्ता साहित्य मण्डल प्रसिद्ध हैं। गीता प्रेस, इण्डियन प्रेस, नवलकिशोर प्रेस और खेमराज श्रीकृष्ण द्वारा भाषा का अच्छा हित सम्पादन हुआ है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी, ओझाजी की ऐतिहासिक गवेषणा-पूर्ण खोजों का फलस्वरूप ग्रन्थ-निर्माण, शुक्लजी की आलोचनात्मक रचनाएँ, सम्मेलन द्वारा ग्रन्थों का उत्तमकोटि का सम्पादन, विश्वकोष और हिन्दी शब्द सागर आदि की रचनाएँ भाषा के नाम को उजागर कर रहीं हैं। आख्यायिका, गल्प और उपन्यासों के क्षेत्र में गिरजाकुमार घोष के अनुवाद, देवकीनन्दनजी खत्री के विचित्र कल्पनात्मक आकर्षक चन्द्रकान्ता संतति सदृश विस्तृत उपन्यास, प्रेमचन्दजी की सर्वांग सुन्दर अनमोल रचनाएँ, सुदर्शनजी की सामाजिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति, 'प्रसाद' जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा की परिचायिक ऐतिहासिक गहन घटनाओं का रुचिपूर्ण प्रकाशन, ज्वालादत्त जी, कौशिकजी, हृदयेशजी, चतुरसेनजी आदि की कृतियाँ उन्नति शील भाषा के वर्धमान स्वरूप का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन कर रहीं हैं। किशोरीलालजी के बहु-संख्यक सामाजिक तथा साहित्यिक उपन्यास, अयोध्यासिंह जी का 'ठेठ हिंदी का ठाठ और 'अधखिला फूल नामक मौलिक, सरल और व्यावहारिक भाषा

में लिखित उपन्यास, चण्डीप्रसादजी के मङ्गलप्रभात और नन्दन निकुंज, प्रेमचन्द्रजी के प्रेमाश्रम, सेवासदन, रङ्गभूमि, कायाकल्प, गोदान आदि मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रणमय कृतियाँ, प्रसाद जी की भावुकता पूर्ण कंकाल, तितली आदि, उग्रजी की मधुर प्राकृत और सौष्ठवपूर्ण भाषा में रचनाएँ हमारी भाषा का भूषण हैं, अनुवादकों में ईश्वरीप्रसाद शर्मा, गोपालराम गहमरी, रूपनारायण पाँडे, कार्तिकप्रसाद खत्री के नाम भी स्मरणीय हैं।

निबन्ध-रचना में भारतेंदु तथा उनके समकालीन प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्णजी भट्ट, बद्रीनारायणजी चौधरी, माधवप्रसादजी मिश्र, बाबू बाल मुकन्द गुप्त, साहित्य-महारथी, महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के अतिरिक्त पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र की अनुप्रासमयी भाषा, पं० जगन्नाथप्रसादजी की हास्य रसात्मक लेखन शैली, बाबू गुलाबराय की भावात्मक रचनाएँ, चन्द्रधरजी के विद्वतापूर्ण लेख, गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय तथा लाला कन्नोमल के दार्शनिक निबन्ध, बाबू श्यामसुन्दरदासजी की संस्कृत गर्भित भाषा में नये-नये विषयों का समावेश, व्याख्यात्मक शैली में पं० स्व० रामचन्द्रजी शुक्ल के मानसिक वृत्तियों के विश्लेषण करने वाले व्यापक पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर लेख, बख्शीजी के सामयिक विद्वतापूर्ण उत्तमोत्तम निबन्ध भाषा की अक्षुण्ण सम्पत्ति हैं।

गद्य-काव्य में वियोगी हरि, चतुरसेन जी शास्त्री, रायकृष्णदास आदि के शुभ नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

समालोचना के क्षेत्र में पं० महावीरप्रसादजी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंहजी, रामचन्द्रजी शुक्ल, लाला भगवानदीन, बाबू श्यामसुन्दरदासजी, हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, रामकृष्णजी शुक्ल के नाम कदापि भुलाये नहीं जा सकते।

कविता-क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद ब्रजभाषा के अटूट स्तम्भ राजा लक्ष्मणसिंह, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, ब्रजकोकिल सत्यनारायणजी, जगन्नाथदास रत्नाकर जी, वियोगीहरि, बुद्ध-चरित्र के रचयिता श्री शुक्लजी, खड़ी बोली में शङ्कर, श्रीधर, हरिऔध, मैथिलीशरण, रामचरित उपाध्याय, 'सनेही', त्रिशूल, ठा० गोपालशरणसिंहजी, माखनलालजी, नवीनजी, रामनरेशजी, अनूपजी, सुभद्राकुमारी चौहान के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वर्तमान कविता अनेक धाराओं में बह चली है जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली के भेद को छोड़ कर छायावाद, हृदयवाद, प्रगतिवाद, देशभक्ति की ध्वनि और अब अतुकांत की सीमा तक पहुँच गयी है। छायावादी कवियों में सूर्यकान्त निराला, पन्तजी,

प्रसादजी, डा० रामकुमारजी, महादेवी वर्मा, भारतीयआत्मा, बच्चनजी आदि जगमगाते हुए रत्न दृष्टिगोचर होते हैं।

नाटककारों में भारतेन्दु के बाद प्रसादजी, बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलालजी चतुर्वेदी, (भारतीय-आत्मा) लक्ष्मीनारायणजी मिश्र आदि के नाम चिरस्मरणीय हैं।

इस प्रकार भाषा की सर्वतोमुखी उन्नति सफल और गौरवमय उज्ज्वल भविष्य की आशा दिलाती है। हिन्दी का प्रसार अब कन्याकुमारी से हिमालय के अंचल तक, पादरियों और मुसलमान कवि और लेखकों से लेकर सब प्रान्तों और सब भाषा-भाषियों में है और इसके भव्य भविष्य की भूमिका का परिचायक है।

काव्य-रचना समस्त समाज के लिए हितकारी प्रतीत हुई और होती रहेगी। कवि को सबसे बड़ा लाभ 'कीर्ति' है। "कीर्तियस्यस जीवति" आज कितने ही प्राचीन से प्राचीन आर्य-ग्रन्थों के प्रणेताओं से हम उनके ग्रन्थों द्वारा उपदेश लेते हैं और उनकी अजरामर कीर्ति चिरस्थायी करने में दो शब्द साधुवाद के प्रयोग में लाते हैं। यही उनकी कमनीय कीर्ति है और इसी के बल पर वे चिरन्तनकाल से अद्यपर्यन्त जीवित हैं और भविष्य में रहेंगे। उनके ग्रन्थों ने कितनों को डूबने से बचाया है, कितनों की जीवननौका चट्टानों पर टकराने से बचाया है, कितनों को पथ-प्रदर्शन कर सुरक्षित किया है। इस सम्बन्ध में अंगरेजी कवि Southey की Scholor नामक कविता पठनीय है। काव्य के उद्देश्य अनेक हैं। संस्कृत के एक श्लोक में इनका अच्छा समन्वय किया है। "काव्यं यश से अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेकरक्षतये सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयो पदेश युजे।" अर्थात् काव्य रचना से यश की प्राप्ति, धनलाभ, व्यवहारज्ञान, अपकल्याण का निवारण, आनन्द का प्रादुर्भाव और प्रिया के समान उपदेश का लाभ आदि प्रत्यक्षफल प्राप्त होते हैं। कवि अपनी काव्य-रचना द्वारा अपने नायकादि पात्रों की गुणगरिमा प्रकट करके उन्हें पूजा के योग्य तथा विपरीत भाव से घृणास्पद बना देते हैं। कवि की अनोखी सूझ विलक्षण होती है। इसीलिए कहावत भी प्रसिद्ध है "जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि।" कवि अपने समय का विकासक वसंत है। तत्कालीन ऐतिहासिक तथा राजनीतिक परिस्थिति का उन्नायक होता है। चारण काव्यों द्वारा देश पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाले नौनिहालों को

इन्हीं यशस्वी कवियों ने अपनी अमोघ वाणी द्वारा प्रेरित करके कुछ का कुछ कर दिखाया। इसीलिए कवियों की महिमा का सूचक निम्न श्लोक सर्वथा योग्य ही है। "ते धन्यास्तेमहात्मानः तेषाम स्थिरंयशः यैर्निर्बद्धानि काव्यानि येच काव्येषु कीर्तिताः। संसार विषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे। काव्यामृतरसास्वदः संगतिः सज्जनै सह।" कवियो की अनुभवपूर्ण वाणी द्वारा समाज का हित अवश्य होता है। कविता पर परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य्य है और उसी प्रकार कवि की वाणी का जनसमुदाय पर। कविवर विहारीलाल के "नहि पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यह काल। अली कली ही सों विंधों, आगे कौन हवाल" ने जादू से भी बढ़कर चमत्कार दिखलाया। कुल परिस्थिति की उल्टा पल्टी कर डाली, सावधानी की 'अलोर्म वैल' (खतरे की घण्टी) तुरन्त ही बजा दी।

[काव्य-कला में शक्ति और कला उभयपक्ष का अच्छा समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कविता द्वारा उच्च भावो का उद्बोधन होता है। आदर्श उपस्थित होता है और समाज का कल्याण होता है। प्रतिभाशाली कवि अपनी ईश्वर प्रदत्त शक्ति द्वारा और ही बढ़ा-चढ़ा चमत्कार प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते हैं। भाषा सौन्दर्य सोने में सुगन्धि का काम देता है। काव्य-कला से आनन्द और उपदेश दोनों ही की प्राप्ति होती है, यह कवि के हृदय का गान है। उसकी हृद्तन्त्री की मनोहर ध्वनि है। कहा है कि इस पर भगवान भी मुग्ध होजाते हैं। "नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदसेन च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद (श्रीमद्भागवत)" रस काव्य-कला का प्राण है, चमत्कृति उसकी छवि है, मनोहर भाव उसकी शक्ति है। अलौकिक आनन्द के उद्रेक का नाम रस है। उसमें तन्मय होकर मनुष्य अपने को भूल जाता है, भूख प्यास की वेदना से अनभिज्ञ सा प्रतीत होने लगता है।] विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव से स्थायी भाव व्यक्त होता है तब रस की उत्पत्ति होती है अथवा जब कोई स्थायी भाव अपने कारणों, कार्यों और सहायकों की सहायता से काव्य में व्यक्त अथवा ध्वनित होता है तो उसे 'रस' कहते हैं। जिससे भावना स्पष्ट हो विभाव कहलाता है। आलम्बन और उद्दीपन इसके दो विभाव हैं। अनुभाव भाव का कार्यरूप है। जो भाव रसो में सञ्चार करते हैं वे सञ्चारी भाव कहलाते हैं। सञ्चारी भाव को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। जिसके ३३ भेद माने गये हैं। गुण रस का धर्म है और उससे पृथक नहीं रह सकता है। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुणो के भेद हैं। प्रसादगुण काव्य का

अनिवार्य अङ्ग है। काव्य में शब्द-अर्थ तथा रस सम्बन्धी दोषों का बचाव भी होना चाहिए। कर्णकटुता, अश्लीलता, अप्रसिद्धिता, संदिग्धता, क्लिष्टता, पुनरुक्ति, यतिभंग, गतिभंग आदि दोषों का निराकरण भी आवश्यक है। कविता की महिमा अलङ्कारों से बढ़ती है। केशव ने कहा भी है "भूषण बिना न सोहाई, कविता वनिता मित्त।"

कवि कविता दूसरों ही के लिए रचता है। कहावत प्रसिद्ध है। "कवि करोति काव्यानि स्वादु जानन्ति पण्डितः। सुन्दर्यापि लावण्यं पतिर्जानाति नो पिताः" कवि में अभीप्सित समस्त गुणोंकी माला एक श्लोक में संगीत मकरन्द में पिरोई हुई पाई जाती है। "शुचिर्दक्षः शान्तः सुजनविनतः सूनृततरः कलादेवी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः। रसज्ञो दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः शुभाकारश्छन्दोगणगुणविवेकी स च कविः" इसी कारण 'कविस्तु उशना गुरुः' यथार्थ उक्ति है। कविता द्वारा ही 'बिन्दु में सिन्धु समा जाता है' और फिर उसमें से "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" चरितार्थ होता है। इसीलिए बिहारी ने 'तंत्रीनाद कवित्त रस,' ' ' अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग' यथार्थ ही कहा है। तभी अङ्गरेजी में टेनीसन को 'Flower in the crannied wall' की चार पंक्तियों में त्रिलोकी से परे अलौकिक आनन्द का प्रत्यक्ष आभास हुआ।

प्राकृतिक सौन्दर्य को भाषा की छटा द्वारा विश्व को अभिव्यक्ति करना ही कवि का कर्तव्य है। इसी में उसके उद्देश्य की पूर्ति है। ज्ञानचक्षु वाले को ब्रह्माण्ड ही महाकाव्य है। एडीसन ने, 'Eyes & no Eyes' शीर्षक पाठ में इसकी अच्छी अभिव्यंजना की है। बिहारी ने भी 'अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान' कहकर नेत्र के उपयोग की अच्छी चित्ररेखा खींच दी है। भाषा विचार का साकार रूप है। यह परिवर्तनशील है जैसा कि हिन्दी भाषा के संक्षिप्त इतिहास के दिग्दर्शन में दर्शाया जा चुका है। उन्नतिशील भाषा में परिवर्तन एवं परिवर्धन होते रहना स्वाभाविक हैं। उसकी रोक होते ही उसकी उन्नति रुक जाती है। सभ्यता के साथ भाषा का घनिष्ट सम्बन्ध है। सभ्यता की श्रीवृद्धि के साथ-साथ भाषा में भी अभिवृद्धि होती है। एक का ह्रास दूसरे को पतनोन्मुख कर देता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश इस देश की प्राचीन भाषाएँ हैं। इनके सम्बन्ध में ऊपर स्पष्टीकरण किया जा चुका है। हिन्दी, मराठी, गुजराती सिन्धी, बंगला, उड़िया, पंजाबी, तामिल, तैलंगी,

कनाड़ी इस देश की प्रचलित भाषाएँ हैं। राजस्थानी आदि हिन्दी की शाखाएँ हैं। उर्दू का समावेश हिन्दी में होता है। लिंग वचन कारक वे ही हैं। हिन्दी प्राचीन है। लिपि भेद तथा फारसी अरबी शब्दों की प्रचुरता के कारण अब यह हिन्दी से दूर दूर चली जा रही है। इसलिए विद्वानों को एक और शब्द 'हिन्दुस्तानी' का नामकरण करना पड़ा है। प्राचीन पश्चिमी हिन्दी से राजस्थानी और गुजराती की उत्पत्ति हुई और पूर्वी हिन्दी से अवधी बुन्देलखण्डी और छत्तीसगढ़ी की। हिन्दी भाषा में सीधे संस्कृत से आये हुए तत्सम शब्द संस्कृत से आये हुए परन्तु बिगड़े हुए (अपभ्रंश) तद्भव शब्द तथा प्राचीन बोलियों से लिए हुए अथवा रूपरेखा ध्वनि आदि के अनुसार गढ़े हुए देशज शब्द पाये जाते हैं। व्रजभाषा में तद्भव शब्द और खड़ीबोली में तद्भव तथा देशज शब्दों की प्रचुरता पायी जाती है। हिन्दी का पुराना नाम हिन्दवी तथा हिन्दुई भी था। हिन्दी-भाषा द्वारा वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ और उसके साथ हिन्दी की श्रीवृद्धि हुई। अष्टछाप के कवियों की रचना और ८४ वैष्णवों की वार्ता इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ग्रामीण कवियों ने अपनी बोलचाल में खूब कविता रची और उसके द्वारा धर्म का प्रचार और खूब प्रसार हुआ। जैनसमाज में ठकुरसी, बनारसीदास, भूधरदास आदि अनेक ख्यातनामा कवि हुए। सिक्ख समाज का धर्म-ग्रन्थ श्री ग्रन्थ-साहब हिन्दी ही में है। गुरु नानकदेव, अर्जुनदेव, तेगबहादुर ने हिन्दी ही में रचना की। गुरुगोविन्दसिंह ने तो हिन्दी को सबसे अधिक अपनाया। महाकवि सन्तोष-सिंह का सूर्यप्रकाश भाषा का महाकाव्य है। गुजराती में नरसी और दयाराम की कविता अधिकांश हिन्दी ही में है। मुसलमान कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी, अमीर खुसरो, उसमान, रहीम, खानखाना, रसखान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पादरियों ने धर्म-प्रचार के लिए इसी की शरण ली है और व्याकरण कोष काव्य-ग्रन्थ आदि की रचना करके इसका मान बढ़ाया है। इस प्रकार यह भाषा और इसका साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति पथ पर आरूढ़ होता गया।

श्री गुलाबराय—

साहित्य के मूल्य

साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का सम्बन्ध मोल-भाव या क्रय-विक्रय की मनोवृत्ति से है। उस शब्द के सुनते ही वर्तुलाकार रजतखण्डों का जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ हो गया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओं का आकर्षक रूप सामने आ जाता है। अङ्गरेजी भाषा में "वैल्यू" शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यंजना से निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विशुद्ध कलावादी जो कला को सब मूल्यों से परे मानते हैं साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा-मसीह के-से आवेश में आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगों ने साहित्य-जैसे पावन देव-मन्दिर को क्रय-विक्रय की हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्त रूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यंजना से युक्त भी है। तथापि वह मूल्य का ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तु के निर्माण के पश्चात् मिलता है। निर्माण से पूर्व वही लक्ष्य रूप से प्रयोजन कहलाता है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनों के ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियों के क्षोभ की निवृत्ति के अर्थ हमको मूल्य शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। साधारणतया हम उसी वस्तु को मूल्यवान कहते हैं जो या तो सीधे तौर से हमारे उपयोग में आ सके या हमारे लिए उपयोग की वस्तुओं को जुटा सके या भविष्य में जुटा सकने की सामर्थ्य रक्खे। धन से मूल्य का प्रमुख रूप इसीलिए माना है कि उसके द्वारा हमको बहुत सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। हम उपयोगी उसी वस्तु को कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। कूड़ा-कर्कट जब हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है; किन्तु जब वही खाद बनकर हमारे उद्यान के फूलों या गोभी टमाटर के उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धि

में सहायक होता है तब हमारी एक आवश्यकता की पूर्ति के कारण उपयोगी और मूल्यवान् बन जाता है। आवश्यकताएं केवल भौतिक जगत् में ही सीमित नहीं रहतीं, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

कलावादियों की कला भी जो उपयोगिता की अपावन गंध से परे समझी जाती है अपनी सौंदर्य-जन्य प्रसन्नता देने की शक्ति और क्षमता के कारण उपयोगी कही जा सकती है। सङ्गीत भी क्लान्त मन को विश्रान्ति देने के कारण उपयोगिता के क्षेत्र के बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए प्राणों की भी आहुति देने में आना-कानी नहीं करता; उसके लिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्ति में उसकी विस्तृत आत्मा को परितुष्टि होती है। एक धार्मिक व्यक्ति घर-बार की चिन्ताओं को छोड़कर हरि भजन में मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतम से मिलन का साधन समझता है। राजरानी मीरा अपने प्रभु गिरिधर-नागर के लिए राज-वैभव, लोक-लाज और कुल-मर्यादा को तिलाञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझती थी, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भाव की तुष्टि होती थी। कोई श्रद्धालु भक्त मासिक 'कल्याण' के लिए डाकिये की अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसन प्रिय-सज्जन टाइम्स ऑफ इण्डिया के क्रॉस वर्ड पजल्स के लिए न्यूज—एजेण्ट की दूकान के दिन में दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि ये मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि वैचित्र्य के कारण सापेक्षित हैं या निरपेक्ष। मूल्यों के सम्बन्ध में भी कुछ सापेक्षता अवश्य है किन्तु मनुष्य का जरा निकटतर अध्ययन करने से इन आवश्यकताओं के मोटे-मोटे प्रकारों का पता चल जायगा।

मनुष्य भौतिक पदार्थों की भाँति जड़ नियमों के बन्धन में रहता है। यद्यपि उसने अपनी वैज्ञानिक बुद्धि के बल पर उन नियमों पर बहुत अंशों में विजय प्राप्त करली है तथापि वह उनकी नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। मानवी बुद्धि की चरम सफलता के द्योतक वायुयान भी अचल होकर गगन-मण्डल में स्थित नहीं रह सकते। शीतोष्ण और क्षुत्पिपासा आदि आवश्यकताओं से भी वह अपना पल्ला नहीं छुड़ा सका। मनुष्य सत् होने के नाते मिट्टी के ढेले की भाँति प्राकृतिक नियमों में बँधा हुआ है और सजीव होने के नाते आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी आव-

आवश्यकताओं में पशुओं का समानधर्मा है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य की इन सब बातों में कुछ मानसिक पक्ष भी लगा रहता है और इस कारण उसका आनन्द भी बढ़ जाता है। पेट तो होटल में भी भर जाता है, किन्तु प्रेम से परोसे हुए भोजन में कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ़ जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदासजी को विनय-पत्रिका में राम-नाम के सम्बन्ध में "सुखद अपनो सो घर है" कहना पड़ता था। यहाँ तक तो मनुष्य के अन्नमय और प्राणमय कोषों की बात रही, उसका मनोमय कोष इन दोनों से ऊँचा है। इसका सम्बन्ध उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से है। उसकी एषणाएँ, अभिलाषाएँ, महत्वाकांक्षाएँ सब इसी से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसकी भौतिक और प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी हैं। यही आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्व की पोषिका बन जाती हैं। ये उसकी अहं-भावना को तुष्ट करती हैं। किन्तु मनुष्य में जहाँ व्यक्तित्व का पार्थक्य है वहाँ उसकी आत्मा उसको व्यक्तित्व की तुच्छ सीमाओं से ऊपर उठाती है। उसकी सामाजिकता इसी का फल है। इसी के कारण वह आचार और नीति के घेरे में आता है, यही प्रवृत्ति अनेकता में एकता स्थापित करती है। योरुप के लोगों ने इस एकता को सामाजिक प्रवृत्ति का व्यवहारिक आधार माना है। भारतीय मनीषियों ने इस एकता की प्रवृत्ति को आध्यात्मिक आधार माना है। और उसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोष से स्थापित किया है। उसी आधार पर भारतीय एकात्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी 'सुपरईगो' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय कोष इससे भी ऊँचा है। उसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी की एकता हो जाती है। कला अपने चरम विकास में इसी ध्येय की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए रस को काव्य की आत्मा माना है और उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

आप शायद इस ऊब दिलाने वाले मनुष्य के विश्लेषण को सुनने से थक गये होंगे और कहेंगे कि साहित्य के परिषद् में यह बेसुरा दार्शनिक राग क्यों छेड़ा गया। साहित्य मुखरित जीवन है; जीवन का ही आत्म-चिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते। हमारे यहाँ का साहित्य शब्द 'लिटरेचर' से कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्य में 'सहितः' 'इकट्ठे' होने वा समन्वय का भाव लगा हुआ है—"सह एवं सहितं तस्य भावं साहित्यम्।" दूसरी व्युत्पत्ति है "हितेन

सह सहितं तस्य भावः साहित्यं ।" साहित्य की इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों से हमको इन मूल्यों के प्रश्न को हल करने में सहायता मिलेगी। यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है। साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्व प्रधान है कि जिसमें हाथी के पैर के समान सबके पैर आ जायँ अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओं के समान कोई छोटा-बड़ा नहीं? यह प्रश्न टेढ़ा है। सब लोग अपने-अपने पक्ष को महत्ता देकर अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापते हैं। 'भिन्न रुचिर्हि लोकाः' की बात इस समस्या को और भी जटिल बना देती है। सब मनुष्यों को एक लाठी से हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियों के साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुपाला' और कुछ बिहारी के साथ कहेंगे "तन्त्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग अनबूड़े-बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।" मनोविज्ञान ने भी 'इन्ट्रोवर्ट' (अन्तर्मुखी) और 'एक्स्ट्रोवर्ट' (बहिर्मुखी) दो प्रकार के टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट कहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवर्ट के अन्तर्गत आते हैं। ये दोनों टाइप किसी अंश में एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते। व्यक्तियों की व्यक्ति सम्बन्धी और टाइप-सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रख कर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य के लिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में किसी एक को प्राधान्य देना चाहिए। या सबको हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनका भी इन्हीं मूल्यों से सम्बन्ध है। धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों से है, काम में सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्ष को चाहे हम थोड़ी देर के लिए ताला॰ए ताक रख दें, किन्तु इन तीन को हम नहीं छोड़ सकते और करीब-करीब तीनों का बराबर महत्त्व है। किसी एक को भी प्राधान्य देना जीवन का सन्तुलन बिगाड़ना होगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी ने अपने भाई भरत जी को प्रश्नों द्वारा नीति का उपदेश देते हुए पूछा था कि कहीं अर्थ से धर्म या धर्म से

अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती अथवा काम से धर्म और अर्थ में बाधा तो नहीं पड़ती ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥

इस प्रकार श्री रामचन्द्र जी ने भरत जी को अपने जीवन में धर्म, अर्थ काम तीनों ही के समन्वय का उपदेश दिया था । यही समन्वय दृष्टि भारतीय दृष्टि है । हमारे यहाँ के काव्य समीक्षकों ने आनन्द में सब मूल्यों का समन्वय किया है । वे लोग यश और अर्थ के भौतिक उद्देश्यों से चलकर पर-निर्वृत्ति के आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं ।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेशयुजे ॥

भामह ने भी काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधक और कला में नैपुण्य उत्पन्न करने वाला तथा प्रीति और कीर्ति की प्राप्ति करने वाला बतलाया है ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों से ऊँचे अवश्य हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करते । भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है ।

साहित्य का मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोण से कर सकते हैं । जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ, महत्वाकांक्षाएँ, कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकार के मानों के अथवा मूल्यों के समन्वय की ओर ले जाता है, वही सत्साहित्य है । साहित्य का अर्थ भी सहित का भाव है जो समन्वय दृष्टि-प्रधान है । आचार्य कुन्तक ने शब्द के शब्दांतर के साथ और वाच्य के वाच्यांतर के साथ मेल को ही साहित्य कहा है—

"सहितौ इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यम् परस्परास्पर्द्धित्व लक्षणमेव विवक्षितम् ।"

कुन्तक ने शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है; यथा—

शब्दार्थौ संहितौ वक्र कविव्यापारशालिनौ ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ॥

इसलिए वक्रोक्तिवाद का कोरे अभिव्यंजनावाद से तादात्म्य करना उचित

नहीं ठहरता । साहित्य की दूसरी कसौटी है, "[illegible]
साहित्य ।" साहित्य के दोनों ही अर्थ हमको मानव मात्र और लोकमंगल की ओर ले जाते हैं । जो साहित्य मनुष्य-जीवन में उसकी सभी शक्तियों और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर ले जाता है, वही हमारे लिए मान्य होगा । इस साहित्य को चाहे प्रगतिवाद कहें, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद ।

प्रगतिवाद में आर्थिक मूल्यों की प्रधानता ही है । यह मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो वह एकांगी होकर इस आदर्श से गिर जाता है । छाया-वाद मनुष्य की कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह शब्द-सौंदर्य पर भी अधिक बल देता है । किन्तु वह भी आर्थिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता । आजकल के छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्यों की ओर संकेत होते जाते हैं । कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा सौंदर्य जो के शब्दों में छायावाद का वास्तविक सौन्दर्य सूक्ष्म-सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है । स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है । सौन्दर्य का आधार भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षण के वह अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है । रवीन्द्र बाबू ने इस पर ही कुछ कहा है—

"ओ वोमन, दाउ आर्ट हाफ़ ड्रीम हाफ़ रीयैलिटी ।"

सुमन के दिव्य सौन्दर्य के लिए उसका पराग-मय -स्थूल शरीर ही नहीं, वरन् कटीली डालें और मिट्टी के ढेले भी आवश्यक हैं । किन्तु हम मिट्टी के ढेले पर ही सन्तोष नहीं कर सकते । सुमन का सौरभ मिट्टी के ढेले की पूर्णता है । वही पृथ्वी का गन्धवती होना प्रमाणित करता है । किन्तु हमको यह भी मानना होगा कि फूल के साथ हांडी जिसमें दाल पकती है और घड़ा जिसमें पानी ठण्डा होता है, मिट्टी की पूर्णताओं में से है । इसके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि सारी मिट्टी घड़े और कुल्हड़ बनाने में ही खर्च हो जाती है, उसके खिलौने भी बनते हैं और उससे सुमन-सौरभ भी उत्पन्न होता है ।

उपसंहार रूप से एक बार मैं फिर दुहराना चाहता हूं कि जीवन के मूल्य साहित्य के मूल्य हैं । जो साहित्य जीवन को पूर्ण बनाये, वही सत्साहित्य है । जीवन की पूर्णता का अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्यों की सफलतापूर्ण समन्विति । हम वैविध्य-शून्य अभावों की समन्विति नहीं चाहते । हम चाहते

हैं वीणा के स्वरों अथवा इन्द्रधनुष के रंगों का-सा विविधतापूर्ण सम्पन्न साम्य। सत्साहित्य जीवन के व्यापक क्षेत्र में, विविधता में एकता स्थापित करने वाले विकासवाद के चरम लक्ष्य को चरितार्थ करता है। मनुष्य केंचुए से तथा उससे भी उच्च श्रेणी के जीवधारियों से अधिक विकसित इसीलिए कहा जाता है कि उसके अङ्गों में कार्यों के वैविध्य के साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्य का क्षेत्र न किसी वर्ग विशेष में सीमित होगा और न उसमें किसी का बहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवता के दर्शन होंगे, उसकी वह उपासना करेगा। उसके लिए सुन्दर और उपयोगी में भी भेद न होगा। उसके लिए उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों एक ही वस्तु के भीतरी और बाहरी रूप होंगे। बाहर और भीतर के साम्य में ही सौन्दर्य की पूर्णता है और वही रस भी है। इस दृष्टि से साहित्य के प्राचीन मान अलंकार, ध्वनि आदि भी निरर्थक नहीं हो जावेंगे। वे सौन्दर्य के ढाँचों के रूप में वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तु के ढाँचे खोखले और निर्मूल्य होंगे और बिना ढाँचों के सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विति नहीं आ सकेगी। काव्य की आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रूढ़िवाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का विशाल और गतिशील निर्झर होगा। भविष्य का कलाकार जीवन के भौतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेयों को कला के सौन्दर्यपूर्ण ढाँचों में ढालकर प्रेय बनावेगा। वह सौन्दर्य को केवल वायवी न रखकर उसको पुष्ट और मांसल बनावेगा और अचल तथा स्थूल में भी वायवी सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करेगा।

प० जगन्नाथप्रसाद मिश्र--

जीवन में साहित्य का स्थान*

साहित्य साधना को मैं राष्ट्रीय साधना के समकक्ष ही समझता हूं। राजनीति के आधार पर स्वाधीनता का जो संग्राम चलाया जाता है उसके पीछे यदि साहित्यिकों की मूढ़ एवम् नीरव साधना शक्ति न हो तो वह कभी सार्थक नहीं हो सकता। संसार की अनेक जातियों के इतिहास से यह प्रमाणित हो चुका है कि आयरिश जाति की स्वाधीनता की यह साधना दीर्घकाल तक चलती रही। किन्तु इस सुदीर्घ संग्राम के पीछे उनके प्रतिपक्षी का ही बढ़कर लक्ष्य था आयरिश जाति के जातीय साहित्य एवं संस्कृति के आदर्श को ध्वंस कर देना और आयरलैण्ड के अतीत को उनकी दृष्टि में निन्दनीय सिद्ध करके शासक जाति के प्रति मर्यादा-बोध का भाव उनके मन में भर देना। पार्नेल के राजनीतिक जीवन के अवसान के बाद आयरिश देश प्रेमिकों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ तब साहित्य साधना के मार्ग से आयरिश जाति में नूतन जीवन का उद्बोधन करने की चेष्टा होने लगी।

संसार में जितने बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं, जिनके द्वारा इतिहास में युगान्तर उपस्थित हो गया है, उनके पीछे हम विद्रोही दल को दो भागों में विभक्त पाते हैं। एक दल भावुकों का, जिनका जीवन व्रत होता है प्राणमयी भावनाओं का प्रचार करना और दूसरा दल कर्मियों का जिनकी जीवन व्यापी साधना होती है उन भावनाओं को कार्यरूप में परिणत करना। भावुक के हाथ में होती है लेखनी जिसके द्वारा वह जीर्ण-शीर्ण पुरातन के विरुद्ध निर्मम अभियान शुरू करता है। अग्नि स्फुलिंग के समान जो ज्वलन्त भाव उसकी लेखनी से विकीर्ण होते हैं उनसे युग-युग के सञ्चित कुसंस्कार एवम् अन्ध विश्वास भस्मीभूत होने लगते हैं और नूतन धारणाओं से मनुष्य का मन ओतप्रोत होने लगता है। इसके बाद उन भावों को रूप देने के लिए, कवि स्वप्न को वास्तव करने के लिए

---

* (सुहृद सङ्घ, मुजफ्फरपुर के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर प० जगन्नाथप्रसाद मिश्र द्वारा दिए गए भाषण का महत्वपूर्ण अंश)

हम कर्मियों को कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होते देखते हैं। साहित्यिक साहित्य की सृष्टि करता है—पाठकों के लिए बोधगम्य भाषा में उसे प्रकाशित करता है। किन्तु किसी स्रष्टा की सृष्टि तभी वास्तविक कला होती है जब कि वह अपनी अनुभूति द्वारा दूसरे की चेतना को जाग्रत कर सकता है। जो कुछ लिखा जाय वह सब साहित्य नहीं है—जो Art है वही साहित्य कहा जा सकता है—साहित्य का अर्थ है साहित्यकला। आर्टिस्ट न तो सोशलिस्ट है और न कम्यूनिस्ट और सुनीत प्रचारक पादरी और धर्मोपदेशक धर्माचार्य तो किसी भी रूप में नहीं है। सत्य एवं मंगल से उसका कोई प्रयोजन नहीं। आर्ट की मायापुरी में कल्पना के रंगीन पङ्खों पर उड़ते हुए सौन्दर्य की माला गूंथना। इस श्रेणी के साहित्यिक आर्ट को Art for Art's sake समझते हैं। दूसरी श्रेणी के साहित्यिकों का कहना है कि समाज-कल्याण के साथ जिस कला के योग नहीं है वह कला नहीं है। जिनका काम है अभिजात श्रेणी के तरुणतरुणियों के दुर्बल प्रेम की हास्यमयी लीलाओं का सुन्दर सुकुमार चित्राङ्कण करना अथवा अलस रुग्ण Neorotic मन की कल्पना प्रसूत सौन्दर्य विलासता को रूप देना वे आर्ट के नाम पर दुर्नीति एवं व्यभिचार की सृष्टि करते हैं। सबसे बड़ा आर्टिस्ट वही है जिसकी प्राण-वीणा में महामानव के अन्तर का स्पन्दन जाग्रत होता है। जिसमें प्रकाशित होती है विपुल-जीवन की कल्लोल ध्वनि। जो कोटि-कोटि, शृङ्खलित, उत्पीड़ित, शोषित नर-नारियों की आशा आकांक्षाओं का प्रतीक होता है; जो भाव रूपी अग्निस्फुलिंगों द्वारा जाति के अज्ञानतिमिर को ध्वंस कर देता है और जिसके कण्ठ से निनादित होता है स्वाधीनता एवं साम्य का जयगान।

उच्चकोटि के साहित्य का क्या रूप होना चाहिए? आर्ट में धूमकेतु की तरह गतिवेग होगा जो हमारे जीवन को गतिशील बनाने की प्रेरणा देगा; उसमें होगी शक्ति की प्रचुरता जो हमें मन की दुर्बलता को जीतने में सहायता पहुँचायगी। वह अग्निशिखा की तरह ज्योतिर्मय एवं पहाड़ी सरिता की तरह वेगवान् होगा। वह हमारे अन्तर को उदार एवं व्यापक बना देगा और जीवन की समस्त जड़ता, शिथिलता एवं अवसाद को दूर करके उसमें उन्मादना एवं तेजस्विता भर देगा। उसमें होगी प्रकाण्ड शक्ति, प्रचण्ड दीप्ति और दुर्निवार गतिवेग।

साहित्य का उद्देश्य रस-सृष्टि है इस बात से किसी को मतभेद नहीं हो सकता, श्रेष्ठ कविता या काव्य का पारायण करने से हमें आनन्द मिलता है,

क्यों ? इसलिए कि वह हमारे अन्तर की अनुभूति को जाग्रत कर देता है। वह अनुभूति ही काव्यरस है; और यह रस-वस्तु ही कविता का प्राण है। जिस कविता में यह रस धर्म नहीं होता, जिस कविता के पढ़ने से अन्तर वा रस उद्वेलित नहीं हो उठता उसे काव्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। हम सब रस के भिखारी हैं, रस के कङ्गाल हैं, कारण रस के आस्वादन में हमें आनन्द मिलता है और यह आनन्द ही हमारा जीवन है। प्रेम की मनोहर आख्यायिकाएँ सुनाकर विश्वप्रकृति को हमारे सामने उन्मुक्त कर देता है और इस प्रकार विश्व के साथ हमारा जो आत्मीय सम्बन्ध है उसकी उपलब्धि हमें करा देता है। श्लीलता एवं अश्लीलता का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। कारण अश्लीलता मनुष्य की अन्तर की वस्तु नहीं है। रस की साधना मनुष्य की अन्तर साधना है। इसलिए प्रकृत जो रस-साहित्य है वह अश्लील हो ही नहीं सकता।

इसलिए शृङ्गार रस के नाम से ही जो लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं वे सुधासार विनिंदक काव्यरस के आस्वादन के अधिकारी नहीं हो सकते। कालिदास के मेघदूत, कुमारसम्भव और शकुन्तला; भवभूति के मालती माधव और विक्रमोर्वशी; जयदेव के गीतगोविन्द का मधुमय संगीत, विद्यापति का सौन्दर्य्य माधुर्य्य हमारे अन्तर को अमृत रस सागर में निमग्न कर देता है। इन्हें पढ़ते समय हमारे मन में आदि-रस की जो लहरें उठती हैं वे मानों हमें इस विषय जगत से ऊपर उठाकर अतीन्द्रिय रसानुभूति के किसी अमृत मय लोक में ले जाती हैं। किन्तु यह जो मधुमय शृङ्गार रस है वही काव्य का एक मात्र रस नहीं है, मनुष्य के अन्तर में और रसों की पिपासा रहती है। अपने माधुर्य का परिपूर्ण रूप से उपभोग करने के लिए अन्य रसों की आकांक्षा भी उसके मन में उठती है। मनुष्य का अन्तर केवल सुकोमल सुषमा से ही पूर्ण नहीं होता। जो अति भीषण, अति रुद्र एवम् अति निष्ठुर है, उसके सौन्दर्य्य को भी वह देखना चाहता है। नारी के सौन्दर्य्य-रस की अनुभूति जिस प्रकार हमारे हृदय की वस्तु है, रुद्रता एवं भीषणता भी उसी प्रकार हमारे हृदय की वस्तु है। शत्रु-वेष्टित चित्तौरगढ़ के प्राकार-द्वार पर प्रयलङ्कर युद्ध की भीषणता, हल्दीघाटी के युद्ध-क्षेत्र में चेतक घोड़े पर सवार राणा प्रताप की वह क्षतविक्षत मूर्ति, स्वदेश की स्वाधीनता एवं नारी की मर्यादा-रक्षा के लिए भीमसिंह का एक-एक कर अपने पुत्र के शोणित से रणचण्डी का खप्पर भरने के लिए आगे बढ़ना, पन्ना धाई का अपने बच्चे

को बर्बर आततायी की नङ्गी तलवार के सामने अविचलित भाव से कर देना ये सब दृश्य भी हमारे अन्तर को रसधारा से आप्लुत कर देते हैं। मधुर रस जिस प्रकार हमें अच्छा लगता है उसी प्रकार रुद्रता, कठोरता एवं भीषणता भी हमें अच्छी लगती है। आत्मानुभूति के रस को परिपूर्ण भाव से आस्वादन करने के लिए जो निष्ठुर, कठोर और भीषण है जो निर्मम एवं निदारुण है उसे भी प्राप्त करना होता है। सब दृष्टियों से मनुष्य अपने अन्तर का आस्वादन करना चाहता है।

साहित्य चाहे रोमैण्टिक हो या रियालिस्टिक या प्रोग्रेसिव, काल्पनिक, वास्तविक या प्रगतिशील साहित्य हो, कल्पना का पुट सबमें कुछ न कुछ अवश्य रहता है और यह कल्पना केवल शून्यता को लेकर हवाई महल नहीं तैयार कर सकती। कल्पना का आधार भी वास्तव जगत्-समाज ही होता है। कवि अपने युग, अपने समाज, अपनी परिस्थिति की उपेक्षा करके महाशून्य में विचरण नहीं कर सकता। कोई भी साहित्यिक वास्तव की उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की जो समस्याएँ हैं उन्हीं के आधार पर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। समाज के घात प्रतिघात से ही वह पुष्ट होता है। इसलिए साहित्य को समाज से पृथक् करके हम नहीं देख सकते।

साहित्य का यह उद्देश्य आज से नहीं, चिरकाल से ही साहित्य द्वारा अनुष्ठित होता आ रहा है। पौराणिक साहित्य में ब्राह्मण धर्म की ही जय-घोषणा की गई है। बौद्धयुग और वैष्णव युग के साहित्य द्वारा भी साहित्यिकों ने अपने अपने सम्प्रदाय के आदर्श एवं महत्व का प्रचार किया है। इसलिए आज के साहित्य को भी नूतन आदर्श का, नूतन आइडिया का, मानवता का वाहन बनाकर जन-समुदाय के साथ उसका घनिष्ट संयोग स्थापित करना पड़ेगा। तभी वह साहित्य जीवन्त एवं प्राण-स्पर्शी बन सकता है। युग समस्या की उपेक्षा करके यदि कोई कलाकार कला की सृष्टि करना चाहेगा तो वह कला मिथ्या एवं कृत्रिम होगी।

इसलिए हम साहित्य को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं रख सकते। लक्ष-लक्ष निपीड़ित मनुष्यों का क्रन्दन और हाहाकार, गणतन्त्र के विरुद्ध साम्राज्य वाद का अभिमान स्वाधीनता के विरुद्ध पशुबल का औद्धत्य, निष्ठुर लोभ एवं प्रबलों का उद्धत अन्याय—यह सब मिलकर जहाँ मानव-सभ्यता के ध्वंस का पथ प्रशस्त कर रहे हों वहाँ सौन्दर्योपासना के नाम पर Art for Art's sake के नाम पर, आर्ट की मायापुरी में आत्मगोपन करना कवियों को शोभा नहीं देता। वास्तव जगत के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने के

कारण ही आज साहित्य प्राणहीन निर्जीव बन गया है—मेरुदण्डहीन सौंदर्य-विलासियों के मनोविनोद की सामग्री बन गया है। इस प्रकार के साहित्य द्वारा हम जिस संस्कृति की सृष्टि कर रहे हैं वह संस्कृति आज क्लैब्य एवम् कार्पण्य से दूषित हो रही है। इस संस्कृति द्वारा हम में पौरुष का दृप्त प्रकाश होने नहीं पाता। यह संस्कृति हमें अपने देश के कोटि-कोटि मनुष्यों के जीवन-प्रवाह से विच्छिन्न करके रखती है।

आज साहित्य का सबसे बड़ा काम होगा ज्ञान के साथ कर्म का मिलन। रोमा रोल्या की भाषा में ज्ञान का काम होगा अपने को कर्म का सैनिक बनाना, साहित्य का काम होगा मन में स्वदेश के एक ऐसे आदर्श को जगाना जिस आदर्श में दुर्बलता का लेश-मात्र नहीं होगा। यह आदर्श जाति को अनुप्राणित करेगा कोटि-कोटि जीवन्त कङ्कालों से परिपूर्ण महाश्मशान के ऊपर एक नूतन भारतवर्ष की सृष्टि करने के लिए, जहाँ दरिद्रता, दुर्बलता एवं अज्ञानता नहीं होगी; जहाँ ज्ञान के ऊपर, स्वास्थ्य के ऊपर, आनन्द के ऊपर सब मनुष्यों का अधिकार होगा। समस्त नर-नारी पराधीनता एवं दरिद्रता के बन्धन से मुक्त होंगे।

हिन्दी के जिन साहित्यिकों ने अपनी रचनाओं द्वारा दुःखी, दरिद्र, उपेक्षित, लांछित एवं अत्याचार पीड़ितों के प्रति हमारे हृदय में समवेदना का सुर जगाया है उनका अभिनन्दन करता हूँ; उनकी कृतियों का जो महत्त्व है उसे भी मानता हूँ। किन्तु नूतन युग के साहित्यिकों से निवेदन है कि वे शौर्य्य के पुजारी, पौरुष के उपासक, मुक्ति के अग्रदूत, पुरातन जगत् के संहारकर्त्ता एवम् नूतन के स्रष्टा बनकर अपनी वीणातन्त्री को एक नूतन स्वर से झंकृत कर दें। वह सुर जो जाति के मर्म को आलोड़ित कर दे, उसके अन्तर में दुर्निवार दृढ़ता भर दे और भर दे बाहु में विपुल कर्म की प्रेरणा। अब केवल कोमल सुषमा से प्राणों की पिपासा नहीं मिटती। अपनी वीणा के इस नूतन सुर द्वारा कठोरता, रुद्रता एवं भीषणता के माधुर्य्य को जगाना होगा, वह माधुर्य्य ही से इस अवसन्न पतित जाति को मनुष्यत्व की ओर आकृष्ट करेगा। इस प्रकार का साहित्य ही हमारे मन में शौर्य्य, चित्त में निर्भीकता, धमनियों में अशान्त रक्त चाञ्चल्य और नयनों में सुदूर भविष्य का गौरवोज्ज्वल स्वप्न जाग्रत करेगा। भारत के विशाल जनसमाज का अन्तर देवता आज भी जाग्रत नहीं हुआ है। उसे जगाना होगा।

श्री देवराज उपाध्याय—

मार्क्स और साहित्य

कार्ल मार्क्स की सबल और क्रान्तिकारी विचारधारा ने हमारे सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक जीवन के स्वरूप में जिस महान् विप्लव का आयोजन किया है उसका प्रतिबिम्ब साहित्य में—प्रधानतः हिन्दी जैसे उगते हुए साहित्य में दिखलाई पड़े यह तो स्वाभाविक ही है। कोई भी लेखक जीवन को झकझोर देने वाली आँधी से अपने को अछूता रख ही कैसे सकता है? कविवर सुमित्रानन्दन पन्त में 'पल्लव' से लेकर 'ग्राम्या' तक एक क्रमिक-विकास की धारा सी जो दिखलाई पड़ती है वह पुकार-पुकार कर कह रही है कि पूँजीवाद के द्वारा गरीबों का जो शोषण हो रहा है उसकी आर्त्त-पुकार कवि को सुनाई पड़ रही है।

बार-बार हमारी पकड़ से भाग निकलने वाली उच्छृङ्खल वास्तविकता पर विजय प्राप्त करने वाली जो चिरन्तन भूख मनुष्य के अन्दर विराजमान रहती है वही प्रत्येक विधायक कला की जननी है। मनुष्य अपने हृदय की तह में यह विश्वास लेकर चलता रहता है कि वह मुट्ठी भर पसलियों तक ही सीमित नहीं, उसकी शक्ति अविजेय है, उसके अन्दर शक्ति का अनन्त स्रोत छिपा पड़ा है जिसके सहारे पर अपने भाग्य के विधाता-नियति-के पथ को अपने पैरों चल सकता है। कहा जाता है कि प्रस्तर युग में दीवालों पर जो तरह-तरह के जानवरों के चित्र खुदे हुए मिलते हैं उनके चित्रकारों के अंदर यही भावना या विश्वास काम कर रही थी अर्थात् उनका विश्वास था कि चित्र में प्रतिबिम्बित वस्तुओं पर वे एक तरह से अधिकार प्राप्त कर लेंगे। एक जगह अँग्रेजी में जो-कुछ पढ़ने को मिला था उसका हिन्दी रूपान्तर इस तरह है :—

'कलाकार अपने हृदय-प्रदेश की तड़पती भूख की टेस से बेताब रहता है; उसके हृदय में आकाँक्षा होती है यश की, प्रभुता की, ऐश्वर्य की और प्यार की, परन्तु उसके पास इनकी प्राप्ति के साधन का अभाव रहता है।' आधुनिक युग में संसार के दोनों पुलिनों को डुबा देने वाला विप्लव जो घहराता हुआ चला आ रहा है क्या उसको भी श्रमिकों के हृदय की तड़पती वेदना

से प्रेरणा नहीं मिल रही है? जब 'दिनकर' झोंपड़ियों की समाधि पर खड़े राज-प्रसादों की बर्बरता से ऊबकर कह उठता है 'हटो व्योम के मेघ पन्थ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं' तो क्या मानों शोषित वर्ग के लक्ष-लक्ष मनुष्यों की आकांक्षा ही नहीं बोल उठती है? कहने का अर्थ यह कि आज के संक्रांति-युग में जब कि दुनिया एक नूतन साम्यपूर्ण संतुलित जीवन की व्यवस्था के स्वप्न में अँगड़ाई ले रही है, वह वस्तु प्रचुर मात्रा में मौजूद है जिसको लेकर उच्च कलात्मक साहित्य का निर्माण किया जा सकता है।

पर उच्चकोटि के कलात्मक साहित्य की सृष्टि के लिए केवल सामग्री का होना ही तो काफी नहीं है। इसके लिए एक ऐसे रसग्राही हृदय की आवश्यकता है जिसमें पैठकर यह बिखरी हुई मूक सामग्री जीवित हो उठे और हृदय के रस से अनुप्राणित हो मरुप्रदेशों में मलय का संचार कर दे। ये बातें इसलिए कहनी पड़ रही हैं कि आजकल हिन्दी में खासकर कथा के क्षेत्र में ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं जिनमें कर्म-जर्जरित श्रमिकों के जीवन की दुर्दशा के वर्णन में ही कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है। व्यक्ति को अर्थ-शास्त्र के फौलादी पंजों में पड़े शिकार की तरह, परिस्थितियों की ठोकरों पर लुढ़कने वाले निर्जीव प्राणियों की तरह चित्रित किया जाता है। मानो उनमें कोई अपनापन नहीं है, मानो मनुष्य अपनी परिस्थितियों की उपज-मात्र है और कुछ भी नहीं। ऐसी रचनाओं की सृष्टि के लिए साम्यवाद और मार्क्स की दुहाई दी जाती है। वास्तव में हम ऐसी रचनाओं में अर्थशास्त्र के नियम और उपनियमों के आरोह और अवरोह की, उसके घूमते हुए चक्र को भले ही देखें पर उस व्यक्ति को जिसके केन्द्र से ये चक्र चलते रहते हैं; जो इस चक्र को अपने प्रभाव से मर्य्यादित रखता है तथा स्वयम् प्रभावित होता है, नहीं देखते। कहने का अर्थ यह है कि शब्दों, वाक्यों और घटना-चक्रों के ताने-बाने में एक सबल और सजीव व्यक्तित्व-सम्पन्न 'मनुष्य' को नहीं देखते जिसे हमारे हृदय के समक्ष खड़ा करना साहित्य का लक्ष्य है। अब प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि मार्क्सवाद में और प्रोलिटेरियन साहित्य में मानव को, मानव-जीवन को तथा आध्यात्मिक शक्तियों को कौन-सा स्थान प्राप्त है? क्या मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुसार मानव और उसका जीवन समाजशास्त्र के उत्पादन सम्बन्धी आर्थिक नियमों और उपनियमों के इशारे पर उत्ताल तरङ्गों से ताड़ित तृण की तरह इधर से उधर लुढ़कने वाला प्राणी मात्र है?

यहाँ मार्क्सवाद की फिलासफी का विशद और विवेचनापूर्ण विवरण

करना अभीष्ट नहीं। यह कार्य मैं अपने से अधिक योग्य और विद्वतापूर्ण पण्डितों के लिए रख छोड़ता हूँ। पर इतनी बात तो सर्वसाधारण को मालूम है कि मार्क्सवाद की फिलासफी का नाम संघर्ष जनित भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है अर्थात् इसमें भारतीय दर्शन या अन्य यूरोपीय दर्शनों के अनुसार आध्यात्मिक शक्तियों और प्रत्ययवाद को प्रधानता नहीं दी गई है। काँटे की तरह यहाँ पर सृष्टि के सारे व्यापारों को Phenomena (दृग्विषय) और Noumena के पृथक पृथक स्तरों पर विभाजित नहीं किया गया है। यहाँ जो कुछ है स्पष्ट है, सीधा है और शब्दों के वाग्जाल से परे है। "Being determines the conciousness" 'वस्तु का स्थूल अस्तित्व ही चेतना जनक है।' यही मार्क्स की वस्तु और भीतरी आत्मा के सम्बन्ध का द्योतन करने वाला सिद्धान्त है। कहने का अर्थ यह, किसी वस्तु के ज्ञान की किरणें मानस पर जाकर टकराती हैं तभी हमारी चेतना जागरित होती है। मार्क्स वस्तु के वाह्यनिष्ठ अस्तित्व में विश्वास करता है और यह कहना ठीक भी है कि मार्क्स के मतानुसार जीवन के भौतिक आधार तथा ऐन्द्रिय स्थूल आवश्यकताओं का प्रभाव हमारे मानसिक जगत् पर बहुत पड़ता है और वे ही हमारे मानसिक विचारों, भावों और अनुभावों के उपजीव्य हैं और उनके स्वरूप का निर्माण करते हैं। परन्तु इस कथन की खींचातानी कर यह सिद्धान्त निकालने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये कि मनुष्य भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली मात्र है, वे ही उसके स्वरूप का निर्माण करती हैं, और वह उन्हीं के ताल और सुर पर उसी तरह नाचा करते हैं जिस तरह एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में तापमापक यन्त्र का पारा ताप के क्रम पर उठता और गिरता रहता है। ऐसे विचारकों के अनुसार तो हम मनुष्य की गति-विधि और उसके कार्य-कलापों और उसके व्यवहारों के स्वरूपों का ज्ञान ठीक उसी सचाई के साथ पहले ही प्राप्त कर सकते हैं, जिस तरह एक रसायन-शास्त्री अपने दो तरल पदार्थों के मिक्श्चर के परिणाम को। दूसरे शब्दों में मनुष्य भौतिकवाद तथा वस्तुवाद के अस्त्रों के आखेट के सिवा और कुछ नहीं।

मार्क्स के सिद्धान्तों की इससे अधिक भ्रामक व्याख्या, इससे अधिक भयङ्कर रूपविकृति हो नहीं सकती। बात यह है कि हमारे हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंश पर पश्चिमीय प्रभाव बहुत ही व्यापक रूप से पड़ रहा है और यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि जब हम इनके सम्पर्क में आये उस समय एक आलोचक के शब्दों में हम 'अपना प्राचीन गौरव भूल चुके थे।' इस कथन से हमारी प्राचीनता प्रिय प्रवृत्ति को थोड़ी सी ठेस अवश्य पहुँचे पर

इस ठोस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। निकटतम आधुनिक युग में दो यूरोपियन आचार्यों का—फ्रायड और मार्क्स—क्रमशः अन्तर्जगत के क्षेत्र में और वहिर्जगत के क्षेत्र में जितना प्रभाव पड़ा है, उतना और किसी का नहीं। और मैं पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के इन शब्दों से पूर्णरूपेण सहमत हूँ 'कि इनके विचारों और ग्रंथों का हिन्दी में कम प्रचार हुआ है, परन्तु इनके द्वारा प्रभावित साहित्य का निर्माण होने लगा है।' दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के तात्विक रूप से हमारा आत्यन्तिक परिचय नहीं है। यही कारण है कि मार्क्स ने प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह का शंखनाद फूँका तो उसके बाहरी रूप में कुछ ऐसा आकर्षण मिला कि लोग उसी पर लुब्ध हो गए और उसकी तह में जाकर सूक्ष्म रूप को देखने का कष्ट करना भूल ही गये।

मार्क्स का कहना है कि संसार में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है। हम चाहें या न चाहें, हमारी इच्छाओं के बावजूद भी हमारी आवश्यकताओं की माँग इतनी प्रबल हो उठेगी कि लाचार होकर समाजवादी व्यवस्था का आश्रय लेना ही पड़ेगा। आज की प्रचलित पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायगी, जब उसमें विकास की कुछ भी गुञ्जायश नहीं रहेगी और वह मानव जीवन को सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के बदले उस पर एक बोझ सा हो जायगी तो उसमें कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी जिनके सामने उसे हार मानकर अपना जाला खींच लेना ही होगा। परन्तु इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये भी वह व्यक्ति के महत्व को भूल नहीं गया है। इसी सम्बन्ध में उसने अपने सबसे प्रख्यात दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है और वह यह है 'अब तक दर्शन ने संसार का स्पष्टीकरण किया है, अब उसे संसार को बदलना भी होगा।' इसका दूसरे शब्दों में अर्थ यह हो सकता है कि मनुष्य अपने वातावरण और परिस्थितियों द्वारा तो प्रभावित होता ही है, पर वह मुर्दे की तरह नहीं, निर्जीव जन्तु की तरह नहीं; वह अपने चारों ओर इर्द-गिर्द घूमते हुए चक्र का एक सजीव अङ्ग है, वह उन्हें प्रभावित और परिवर्तित भी कर सकता है। मानव का अपना निजी व्यक्तित्व बड़ी प्रबल चीज है, वह एक तरह से समाज का स्रष्टा भी है।

'लोग कहते हैं बदलता है जमाना, मर्द वह है जो जमाने को बदल देता है' मार्क्स की दार्शनिक प्रणाली में मानव सार्वभौमिक शक्ति या परमात्मा के द्वारा निर्मित काठ का पुतला नहीं। वह तो एक ऐसा 'मर्द है जो अपने

प्रचण्ड व्यक्तित्व से जमाने के रुख को पलट देता है, उसके हृदय की हुँकारों से वीरों के प्राण सूख जाते हैं और वह दम्भी के सिंहासन को पकड़ कर झंझा के समान झकझोर देता है। हमारी दृष्टि में कोई ऐसी दर्शन-प्रणाली नहीं जिसमें व्यक्ति को इतना महत्व दिया गया हो। मुझे आश्चर्य तो तब होता है जब किसी कहानी या उपन्यास में कर्म जर्जर मानव के विकृत रूप के समर्थन में प्रगतिशीलता और कार्ल मार्क्स की दुहाई दी जाती है। और इससे बढ़कर आश्चर्य होता है उस समय जब मैं विद्वानों को भी यह कहते सुनता हूँ कि भौतिकवाद की फिलासफी कल्पना के पंखों को मानो कैंची से काट कर रख देती है; अतएव भौतिक नींव का अवलम्ब लेकर कलात्मक साहित्य का भव्य भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। नहीं, मेरा तो विश्वास है कि मार्क्स के संघर्ष-जनित गतिशीलता की दर्शन प्रणाली में कल्पना को अवाध गति से पङ्ख फैलाकर उड़ने का जितना क्षेत्र प्राप्त है, वह किसी से तिल मात्र भी कम नहीं है।

आधुनिक साहित्य की धारा किस ओर बह रही है और उसका भविष्य किस ओर उन्मुख है? वह कौन-सी स्पष्ट रेखा है जो प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की सीमा निर्धारित करती है और साथ ही साथ भविष्य में साहित्य की रूप रेखा कैसी होगी इस ओर भी इङ्गित करती है? मेरा तो विश्वास है जिस समय मानव की वैयक्तिकता ने, नारी के शुद्ध नारीत्व ने साहित्य-मंदिर 'प्रवेशनिषिद्ध' के फतवा के विरोध में अपना समुचित अधिकार माँगने के लिए पैर बढ़ाया उसी दिन साहित्य की भावना बदल गई। प्राचीन साहित्य में हम मर्यादापुरुषोत्तम राम का दर्शन करते हैं, पातिव्रतनिष्ठ भगवती सीता को देखते हैं, पर उन्हें विद्रोह करते नहीं देखते हैं। मानव को और मानवी को नहीं देखते हैं। ऐसे मानव को जिसके एक पहलू है, उस पहलू में दिल है जो कभी-कभी दर्द से बेताब हो उठता है। हम करुणा से आप्लावित कर देने वाले मर्म-स्पर्शी रोदन को पढ़ेंगे, क्रोधाभिभूत वीर के दर्प को पढ़ेंगे पर उन्हें परम्परा तथा रूढ़ि-निर्मित व्यवस्था के प्रति एक बार भी विद्रोह की ध्वनि करते नहीं पायेंगे। मानवता के नाम पर, मनुष्य होने के नाते हमारे हृदय की जो माँग है, उसे प्राप्त करने का साधिकार दावा पेश करते हुये नहीं पायेंगे। मानो जो कुछ भी हो रहा है वह एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का अवश्यम्भावी परिणाम समझ कर दिल पर सिल रख लेना ही अच्छा है। पर भाई, दिल पर हजार सिल रखो इसके अन्दर बहते हुए लाल लहू के संचार को कैसे रोकोगे। रूढ़ि, व्यवस्थित फाहे को रखने के कारण हृदय पर जो एक खुरट या पपड़ी-

सी पड़ गई है उसे उखाड़ कर उसकी लाली दिखाना, दूसरे शब्दों में सजीव व्यक्ति को दिखलाने की ओर हमारे साहित्य का उद्देश्य हो रहा है। हम स्वीकार करें या नहीं, यूरोप की जीवित जातियों और जीवित साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण हमारे साहित्य के अग्रसर होने का मार्ग निश्चित हो गया है। इस प्रचण्ड वेग से बहती हुई धारा के रुख को बदलने का प्रयत्न आकाश के तारों को तोड़ना तथा गङ्गा के प्रवाह की दिशा को बदलने के सिवाय कुछ नहीं होगा। सच पूछो तो इसकी आवश्यकता भी नहीं। हम साहित्य में मानव की वैयक्तिकता की काफी उपेक्षा कर चुके हैं। टाइप्स की काफी आराधना कर चुके हैं, अब व्यक्ति ने अपनी सारी प्रचण्डता के साथ प्रवेश किया है, नारी शुद्ध/नारीत्व की माँग का दावा पेश करने के लिए महाकाली बनकर अग्रसर हुई है। हमें आदर्शवाद और कल्पना के क्षेत्र से उतर कर इस कठोर वास्तविकता के सामने अवनत होना ही पड़ेगा।

प्रश्न यह होता है कि मार्क्सवाद क्या वैयक्तिकता की इस जबरदस्त माँग पर आघात करता है, क्या मानव की छाती के स्पन्दन की अवहेलना करता है? नहीं, इसका उत्तर ऐन्गिल्स (Engels) के शब्दों में सुनिये 'बहुत से वैयक्तिक आकांक्षाओं के पारस्परिक संघर्ष से ही घटना रूप धारण करती है। जिससे इतिहास बनता है और ये आकांक्षाएँ भी स्वयं जीवन की परिस्थितियों की उपज हैं। अतएव हम देखते हैं कि जीवन में गणनातीत परस्पर विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनकी खींचातानी के परिणाम-स्वरूप एक संयुक्त परिणाम उत्पन्न होता है जिसे ऐतिहासिक घटना कहते हैं। एक तरह से देखा जाय, तो यह ऐतिहासिक घटना एक ऐसी अदृश्य अस्वयंवेद्य तथा अनासक्त शक्ति के कार्य की उपज है। क्योंकि जो एक व्यक्ति की इच्छा होती है वह दूसरों की इच्छा से अवरुद्ध है और अन्त में घटना जो स्वरूप धारण करती है वह प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा से कुछ भिन्न ही होती है। इस तरह अतीत का इतिहास अपने स्वाभाविक रूप में अग्रसर होता है साथ ही विकास के नियमों के आधीन भी रहता है। परन्तु इस सिद्धान्त से कि भौतिक, शारीरिक और आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न मनुष्य की इच्छाएँ अपने पूर्ण रूप में फलीभूत नहीं होतीं, यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि उनका महत्त्व शून्य के बराबर है। नहीं प्रत्येक घटना सुनार की एक-एक टाँकी की तरह संयुक्त परिणाम का स्वरूप गढ़ती हैं और वे उनके अङ्ग हैं।'

इन पंक्तियों में प्रधानतः औपन्यासिक के लिए महामन्त्र निहित है। उपन्यासों का कर्त्तव्य क्या है। अंगरेजी के विख्यात उपन्यासकार फील्डिंग

ने उपन्यास की रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा है कि उपन्यासकार में तीन गुणों का होना आवश्यक है; ज्ञातव्य वस्तुओं की अन्तरात्मा तक प्रवेश करने की और उनकी वास्तविक पृथकताओं को पहचानने की शक्ति; प्रकाण्ड पाण्डित्य और तदुपरान्त विश्व-हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित करने की शक्ति। ध्यान पूर्वक देखने से पता चलेगा कि मार्क्स के विचारों में और फील्डिंग Fielding के विचारों में भेद नहीं है। यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि इन सिद्धान्तों के प्रयोग से फील्डिंगकालीन उपन्यासों की केवल पुनरावृत्ति होगी, या उसके केवल दूसरे संस्करण निकलेंगे। नहीं, आज ज्ञातव्य विषय की अन्तरात्मा में प्रवेश कर यहाँ के विभेदों पर प्रकाश डालने के लिए मानव हृदय के अन्तर्द्वन्द्व तथा उसकी भौतिक परिस्थितियों का तो चित्रण करना ही होगा। और उसमें सर्वसाधारण के साथ सार्वलौकिक होने की क्षमता ही कहाँ से आयेगी जब तक फील्डिंग के समय से आज जो मनुष्य मनुष्य के सम्बन्धों में महान् परिवर्तन हुए हैं, उनकी अवहेलना करें। यह तभी हो सकता है कि जब हम यह याद रखें कि What emerges is something which no one willed (Engels) प्रत्येक मनुष्य के जीवन के दो पहलू होते हैं। वह एक टाइप है जहाँ उसके आदर्श, उसकी व्यावहारिकता और सामाजिकता के दर्शन होते हैं। दूसरा पहलू वह है जहाँ उसकी आकांक्षाएँ, सपने, अदम्य निजत्व की प्रधानता रहती है। जो फिलासफी दोनों पहलुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था पर अपनी नींव नहीं रखती उसकी पकड़ में जीवन नहीं आयगा। इन दोनों रूपों में कितना ही विरोध दीखे, एक की धारा अधोमुखी हो और दूसरे की ऊर्ध्वमुखी हो, पर इतना होने पर भी, वे दोनों एक हैं, उनमें एकता है, वे दोनों एक आभ्यन्तरिक एकता के सूत्र में आबद्ध हैं क्योंकि उनका 'स्व' का स्वरूप 'पर' के द्वारा ही गठित होता है। Don quixote, Falstaff, Tome Joues इत्यादि जितने पात्र हैं, वे टाइप्स हैं, वे 'पर' है पर वे ऐसे 'पर' हैं जिनकी सामाजिकता में, परत्व में, उनका 'स्व' आरपार दिखलाई पड़ता है, जिनकी व्यक्तिगत आकाँक्षाएँ, सपने, हृदय की हलचल, सामाजिक पृष्ठभूमि को उद्भासित करती हैं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र की 'बुआजी' मृणाल को देखिये न। यहाँ उनकी उपन्यासकला की विवेचना करना अभीष्ट नहीं। परन्तु इतना कहना ही होगा कि जो आग, जो बौद्धिक चैलेंज, जो प्रचण्ड वैयक्तिकता, प्रलयङ्कर, 'स्व' इस उपन्यास में है वह तो मैंने हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं देखा। मृणाल है तो जरा सी पर

उसकी मुट्ठी भर पसलियों में वह आग है जिसकी प्रचण्ड ज्वाला में दुनिया की सारी विभूति, उसकी सारी अपावनता भस्म हो जा सकती है। पर फिर भी 'बुआजी' अपने 'स्व' को 'पर' से कहाँ अलग रख सकी हैं। क्या ये २० वीं सदी की बुआजी नहीं हैं। क्या उनके हृदय में अनवरत गति से जो एक नक्षत्र-शिखा जल रही है वह तत्कालीन समाज की अन्धकारमय गलियों की वीभत्सता को, उनकी गन्दगियों को स्पष्ट कर नहीं देती हैं। क्या मृणाल की सृष्टि आज से बीस वर्ष पूर्व हो सकती थी।

फ्रांस के एक समालोचक Allain Forester के शब्दों में यदि मान भी लिया जाय कि उपन्यास का कर्तव्य मानव के अदृश्य और अव्यक्त पहलू को सामने लाना होता है अर्थात् उसकी वैयक्तिकता का प्रदर्शन करना होता है, तो वह इस व्यक्ति को, उसके सपनों और उमंगों को सफलतापूर्वक चित्रित ही कैसे कर सकता है जब तक उसके पास सम्पूर्ण और व्यापक जीवन की दृष्टि नहीं हो? प्रत्येक कलाकार को यह समझना चाहिये कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व की ताकत से घटना के प्रवाह को अपने अनुरूप मोड़ सकता है? पर साथ ही साथ यह भी उसे भूल नहीं जाना चाहिये कि मनुष्य जो कुछ है, उसका व्यक्तित्व जैसा कुछ है उसका निर्माण भी जीवन की विभिन्न परिस्थितियों द्वारा ही हुआ है। अतएव प्रत्येक लेखक के पास इस तरह समन्वय पूर्ण व्यापक दृष्टि का रहना बहुत ही आवश्यक है जिसके अभाव में वह जीवन का सच्चा स्वरूप नहीं गढ़ सकता—क्या मार्क्सवाद आपको यह दृष्टि रखने के लिए नहीं कहता?

इस व्यापक दृष्टिकोण के अभाव में आप मजदूरों के हड़ताल का वाह्य-निष्ठ वर्णन भले ही कर लें, ज्यों-त्यों करके पूँजीवाद की व्यवस्था की खिल्ली भले ही उड़ालें, राजमहलों की समाधि पर कुटिया को आबाद करने की पैरवी भले ही कर लें, पर जीवन के प्रति हमारे चैतन्य को नहीं जगा सकते, जीवन की अनुभूति के क्षेत्र की परिधि को आप नहीं अग्रसर करते। बात यह है कि आज बीस वर्षों के अन्दर जो संसार के प्रचलित पूँजीवादी संगठन को उन्मूल करने के आयोजन स्वरूप जो घटनाएँ घटी हैं, मसलन रूस की क्रान्ति, मजदूर और किसानों का पूँजीपतियों के विरोध में संगठन, पूँजीवाद की शोषण-क्रिया के विरुद्ध क्रूसेड की तैयारी इत्यादि, वे इतनी प्रभावोत्पादक हैं, हमारी बुद्धि को चकित कर देने वाली हैं कि उन्हें देखकर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है, हमारी कल्पना कुण्ठित हो जाती है और हम उनका वर्णन लगते हैं, मानो हम उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। माना कि

इसमें हमारे हृदय को छूने की शक्ति भी है पर उसका अधिकार क्षेत्र एक श्रेष्ठ अखबारनवीसी तक ही परिमित है। उसमें वह क्षमता नहीं कि जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति पैदा कर सके। वह अधिक से अधिक Press-cutting वाला साहित्य होगा।

मार्क्स और एंगिल्स दोनों ही साहित्य में शेक्सपियर को ही अपना आदर्श मानते रहे हैं (?) उन लोगों ने कई बार स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रत्येक लेखक को पात्रों के जीवन-चित्रण में शेक्सपियर से शिक्षा लेनी चाहिए। मेरा विश्वास है पंचवर्षीय योजना के युग में शासन के कोड़े के बल पर, साम्यवाद के प्रचार के नाते, प्रत्येक लेखक को फैक्टरियों में जाना अनिवार्य करके जिस साहित्य का प्रणयन कराया गया है वह सब कुछ हो सकता है, पर जीवन की गहराई में जाकर हमारी सहानुभूति को पात्रों की वेदना के साथ आबद्ध नहीं करता, हमें जीवन के सत्य की मार्मिकता इतनी नहीं मिलती कि अनायास ही, अकारण ही, केवल विशुद्ध मानव के नाते, लेखक के प्रति हमारे हृदय में कृतज्ञता का भाव उदय हो, जिससे हमारे हृदय में यह भावना हो कि लेखक ने हमें अमूल्य निधि दी है जिसका मैं चाहूँ भी तो प्रत्युपकार नहीं कर सकता। साहित्य के इसी चिरन्तन और शाश्वत धर्म की ओर, व्यक्त और पदार्थ-जीवन में अव्यक्त आत्मसूत्र की खोज निकालने वाले रूप पर मार्क्स जोर देता है।

मैं न पूँजीपति हूँ, न उनका हिमायती। अतः मार्क्सवाद को तोड़-मरोड़ कर रखना मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता। मैं तो सिर्फ एक तटस्थ स्थान से चीजों को right perspective में देखने की कोशिश करता हूँ। मैं भी एक दरिद्रता के भार से पीड़ित व्यक्ति के करुण-क्रन्दन से प्रभावित होता हूँ। पर कब? उस समय जब यह देखता हूँ, वह सवा तीन हाथ का है, वह एक ऐसी कलेजी नहीं जो धुक्‌धुक्‌ करती हो मानों अब गई, तब गई। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए मैं पाठकों का ध्यान अभी हाल ही के 'कहानी' के विशेषाङ्क में निकली कहानी 'सौ रुपयों वाली' कहानी की ओर आकर्षित करूँगा। प्रश्न है केवल सौ रुपयों का। एक सोफर तुकाराम की भी 'देवदास' की 'पारू' की तरह एक पारू है। उसकी प्राप्ति के मार्ग में 'सौ रुपये' चट्टान की तरह खड़े हैं। हाय री मानवता! एक ओर सोफर का मालिक है जो एक टी पार्टी में १००) रु० का वारा न्यारा कर देता है और दूसरा वह है जो इन्हीं टुकड़ों के अभाव में अपने आराध्यदेव के मन्दिर में प्रवेशकर हृदय के दो अक्षत चढ़ाने से भी वंचित्र रह जाता है! अन्त में रुपये भी मिलते हैं।

किसी वस्तु के वाह्य रूप के निरीक्षण से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता था। वह उसके आभ्यन्तर में पैठकर अंग-प्रत्यंगों को खोलकर देखता, उन्हें पारस्परिक सहयोग और प्रभाव क्षेत्र में रखकर उन पर विचार करता था। तत्पश्चात् वह आलोच्य वस्तु और उसकी परिस्थितियों को हाथ में लेता और देखता कि एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है। तब वह फिर मुड़कर उसकी उत्पत्ति, विकास; परिवर्त्तन और क्रान्तियों अर्थात् उसके सारे व्यापार की आलोचना करता। उसकी आँखों के सामने अपनी इकाई में स्थित परिस्थितियों से अछूती वस्तु सामने नहीं आती थी; वह आती थी अपनी सारी जटिलता के साथ, अपनी सारी शाश्वत गतिशीलता के साथ। और उसके जीवन को समस्त क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के बीच रखकर चित्रित करना ही मार्क्स का ध्येय होता था। फ्लावेयर और गाङ्कोर्ट के दल वाले उन कठिनाइयों की चर्चा करते हैं जिन्हें कलाकारों की आँखों से देखी वस्तु को चित्रित करने में उठानी पड़ती है। परन्तु वे करते क्या हैं ? किसी वस्तु के वाह्य आवरण से जो कुछ भाव उसके मस्तिष्क में आते हैं केवल उनका आलेखन मात्र। परन्तु उनकी साहित्यिक कृतियाँ मार्क्स की कृतियों के सामने बच्चों का खिलवाड़ हैं। वास्तविकता की इस जटिल समस्या को सर्वतोभाव से हृदयङ्गम करने के लिए एक असाधारण मानसिक दृढ़ता और प्रतिभा अपेक्षित थी और मार्क्स की आँखों ने जो कुछ देखा और लोगों को दिखलाना चाहा उसे प्रेषणीय बनाने के लिए कला को उतनी ही सप्राण होने की आवश्यकता थी।' मार्क्स के साहित्य सम्बन्धी विचारों की चर्चा करते समय मुझे अनायास ही एक भोजपुरी लोकोक्ति याद आ रही है जिसे मेरी बूढ़ी दादी कभी कभी कहा करती थी। वह यों है, 'थोर कहले तुलसीदास, ढेर कहले कविता' अर्थ यह है कि अनुयायीगण किसी सिद्धान्त या विचारधारा के प्रवर्तक के मत्थे ऐसी बातों का आरोप कर देते हैं जो उनके मंतव्यों से एकदम असमान होता है। इस तरह का जोश-खरोश तथा उतावली प्रत्येक नये मत-परिवर्तनकारियों में पाई जाती है ; ये अपनी धार्मिक रूढ़ियों और अनुशासन के पालन करने में इतने कट्टर होते हैं जितना कि प्राचीन नहीं। मार्क्स एन्गिल्स या मैक्सिम गोर्की ने राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में वस्तुओं के महत्त्व के मापदण्ड को परिवर्तित कर देने की सलाह भले ही दी हो, पर जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, उन्होंने सरस्वती के मन्दिर की मर्यादा पर पदाघात करने का प्रयत्न नहीं किया है। साहित्य का तुलाधार शाश्वत है, चिरन्तन है और उसके बटखरे इतिहास के प्रवाह में पड़कर अथवा भिन्न भिन्न विचा-

रकों के हाथों में आकर बिकते नहीं, उनका रूप बदलता नहीं; मान में अंतर नहीं; वे एक-रस हैं, उनके यहां न तो पूंजीपतियों से घृणा है और न साम्यवादियों से पक्षपात।

मार्क्स की एक प्रसिद्ध पुस्तक है, 'A contribution to the critique of political economy' जिसमें उसने यूनान की प्राचीन कला के सम्बन्ध में कुछ निजी विचार व्यक्त किये हैं। उनसे हम जान सकेंगे कि मार्क्स के मतानुसार कला एवं साहित्य का कैसा रूप होना चाहिये। उसने कहा है कि यूनान की प्राचीन कला में तत्कालीन जीवन से उपजीव्य भावनाओं, आदर्शों, कल्पना और मनोवेगों की झलक पाई जाती है; वह यूनान की धार्मिक दंतकथाओं के आधार पर निर्मित हुई है और उनकी पुनरावृत्ति अब इस औद्योगिक युग में तो असम्भव ही है। आधुनिक युग की प्यास को, उमंगों की राजनैतिक हलचल, संघर्ष और घोर अशान्ति को प्राचीन यूनानी कला भले ही अभिव्यक्त नहीं करती हो, पर उसमें एक ऐसी चीज अवश्य है जो हमारी सहानुभूति को जगा देती है, वेदना को छू देती है; हम एक क्षण के लिए आनन्द विभोर हो उठते हैं। और यही सौन्दर्यमूलक आनन्दानुभूति वास्तविक अमर कला की जननी है जो साहित्यिक लेखनी को और चित्रकार की तूलिका को चंचल कर देती है। एक क्या लाखों मार्क्स धरा पर अवतीर्ण हो, तो भी इसके अस्तित्व का लोप नहीं कर सकते जैसा कि आजकल मार्क्स के नाम पर प्रगतिशीलता के नाम पर करने का उपहासास्पद प्रयत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष की बात ही छोड़ दीजिए, अमेरिका जैसे महादेशों में मार्क्स के नाम पर जो कूड़ा-करकट एकत्र किया जा रहा है उसका शतांश भी यहां नहीं हो रहा है। मार्क्स बेचारा जब घबड़ाकर यह कहता है, The difficulty is not in gasping the idea that the Greek art and epos are bound up with certain forms of social development it rather lies in understanding why they still constitute with us a source of aesthetic enjoyment and in certain respects prevail as one standard and model beyond attainment.' पाठकों को मालूम होना चाहिए कि यूनानी सभ्यता के विषय में मार्क्स के विचार कुछ बहुत ऊँचे नहीं थे। वह कहता था कि यूनानी तो 'बालक' थे (Normal children) और उनसे हम मानव सभ्यता की बाल्यावस्था की अभिव्यक्ति से अधिक की आशा नहीं करते। आज का मानव समूह उस समय की सभ्यता

की बाल्यावस्था को सतृष्ण और उत्सुक दृष्टि से देखता है और आनन्दित हो उठता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सभ्यता की बाल्यावस्था की कलाकृतियों का मूल्य हमारे आधुनिक युग की समस्याओं, उसकी उलझनों और माँगों को हल करने की दृष्टि से नहीं आँकनी चाहिये। उनका महत्व इसमें नहीं है कि वे हमारी रोटी की समस्या को हल करती हैं या मजदूरों को पूँजीपतियों के विरोध में खड़े होने के लिए सङ्गठित करती हैं पर इस बात में है कि वे हमारे हृदय में आनन्द का संचार करती हैं, हमें रस में सराबोर करती हैं; हमारे हृदय की मायूसी को दूर करती हैं। तब हम यही पूछते हैं कि वह मार्क्स जिसकी दृष्टि में ये यूनानी मात्र 'Normal children' थे, कभी भी यूनानी कला के विषय में ऊपर उद्धृत वाक्य कह सकता यदि उसका यह विचार नहीं होता कि कला और साहित्य की वास्तविक परख यह है कि वह कला और साहित्य है।

अन्त में मैं इसी बात पर जोर दूँगा कि चाहे किसी 'वाद' का सहारा लिया जाय पर साहित्य को पहले साहित्य होना चाहिये। साहित्य का द्वार सबके लिए खुला है, वहाँ पर कोई 'वाद' प्रवेश कर सकता है, पर शर्त यह है कि वह जीवन की विस्तृत खुली राह से आवे, किसी वाद, थ्योरी या सिद्धान्त की तंग गलियों से होकर नहीं। किसी महाप्राण व्यक्ति ने साहित्य को बोतलों में बन्द कर केवल चिपकाने वाली चीज नहीं बतलाया है। और मार्क्स? उसने तो कभी नहीं कहा कि चूँकि पूँजीवाद ने सामन्तशाही का विनाश कर एक उच्च सभ्यता को जन्म दिया इसलिए पूँजीवादी कला सामंतशाही कला से श्रेष्ठ है; या चूँकि साम्यवादी युग पूँजीवादी युग से उच्चतर सामाजिक व्यवस्था उपस्थित करेगा अतएव साम्यवादी कला पूँजीवादी कला से उच्चकोटि की होगी।

ले०—प्रोफेसर श्री रामजीलाल, एम० ए०, साहित्यरत्न

कला में सौन्दर्य

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में सौन्दर्य शब्द इतना व्यापक चिर-प्रचलित एवं सर्वज्ञात है कि इस शब्द के सम्बन्ध में बद्धमूल धारणाएँ बँध गयी हैं और उनका स्वरूप बहुत कुछ परम्परागत हो गया है। प्रत्येक कलाकार अपनी कृतियों द्वारा सौन्दर्य के अन्वेषण एवं प्रत्यक्षीकरण का ही प्रयासी रहा है। अतः प्रश्न यह उठता है कि एक ही मूल-प्रेरणा से प्रेरित होने पर भी कलाकारों की कृतियों के आदर्शों, उनकी लोकप्रियता आदि में भेद क्यों रहा है। इस प्रश्न का सामान्य उत्तर तो यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त भेदों का कारण सौन्दर्य की मूलप्रेरणा का भेद न होकर, कलाकार की व्यक्तिगत महत्ता अथवा लघुता है। कुछ अंशो में इस उत्तर में कुछ सत्य हो सकता है, पर ध्यान देने पर पता चलेगा कि भेद का वास्तविक कारण सौन्दर्यवृत्ति की नाना-रूपात्मकता है। अतः हमें कला का मूल्य निरूपण करने के लिए सौन्दर्य शब्द की विविधरूपता पर विचार करना होगा।

कला के क्षेत्र मे सौंदर्य शब्द इतने विविध रूपो में प्रयुक्त होता है कि उसकी यत्किंचित् व्याख्या भी कठिन हो जाती है। फिर भी मोटे रूप में सौन्दर्य के दो भेद किये जा सकते हैं। आभ्यान्तरिक सौन्दर्य एवं बाह्य सौन्दर्य। आभ्यन्तरिक सौन्दर्य से अर्थ उस सौन्दर्य से है जो केवल इन्द्रियगम्य ही नहीं होता परन्तु जिसका सम्बन्ध भाव-जगत् की उस संश्लिष्टमयी वृत्ति से होता है, जो वस्तुओं के धरातल पर रहने वाले सौन्दर्य को भेद कर उस सामान्य गुण की ओर उन्मुख होती है जिससे 'सुन्दर' सुन्दर है। इस सौंदर्य भावना के सम्मुख रूप रंग, गुण आकार आदि के भेद या तो तिरोहित होने लगते हैं अथवा गौण पड़ जाते हैं। बाह्य सौन्दर्य को इसके विपरीत समझना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि सौन्दर्य के इन दो रूपो ने कला के क्षेत्र में एवं उसके विकास में बहुत अधिक भाग लिया है। वास्तव में देखा जाय तो कला का इतिहास अधिकांश में सौन्दर्य के इन दो रूपों का इतिहास है। आगे इस बात को दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि कला के क्षेत्र की विविध प्रवृत्तियाँ किस प्रकार सौन्दर्य के इन दो रूपों से सम्बद्ध हैं।

कला के क्षेत्र में कृतियों की जो सामयिक, क्षणिक, समयक्षम, एकदेशीय, सार्वदेशिक आदि कोटियाँ हैं, वे सौन्दर्य के इन्हीं दो रूपों पर अवलम्बित हैं। साहित्य एवं कला के क्षेत्र में जीवन को सामयिक प्रफुल्लता एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाले उपादानों का कभी-कभी इतना आधिक्य हो जाता है कि सच्ची काव्य-वृत्ति न रखने वाले भी प्रायः उनके सहारे कवि बनने का ढोंग रचने लगते हैं। जब कोई सच्चा अन्तरदृष्टि सम्पन्न कवि आभ्यन्तरिक सौंदर्य सूत्र में बँधे कुछ पदार्थों का वर्णन साहित्य में कर देता है, तो अनेक निम्न-कोटि के कवि भी उसके पिछलगे बन साहित्य में उन्हीं वस्तुओं की आवृत्ति करने लगते हैं। साहित्य में परम्परावाद, सम्प्रदाय एवं 'स्कूल्स' के श्रीगणेश में इसी मूलवृत्ति को समझना चाहिए। हिन्दी में 'रीति-काल' के कवि अधि-काँश में इसी बाह्य-सौन्दर्य वृत्ति से अभिभूत थे। राजदरबारों एवं राजमहलों से सम्बद्ध उन्होंने जिन सौन्दर्यमयी वस्तुओं का साहित्य में विधान किया, उनके मूल में वह सौन्दर्य-वृत्ति न थी, जो उन सबको एक सौन्दर्य सूत्र में बँधा देख सकती। उदात्त अलंकार के अन्तर्गत ली गयी सुन्दर पदार्थों की सूची भी बहुत कुछ बाह्य-सौन्दर्य दृष्टि सम्पन्न कवियों द्वारा ही बनाई जाती है। प्रस्तुत की तुलना में बहुत बढ़ा चढ़ा अप्रस्तुत विधान भी इसी मनोवृत्ति के अन्तर्गत समझना चाहिए। वर्तमान हिन्दी कविता में अनेक रूढ़ उपमानों की सृष्टि भी इसी आधार पर हुई है और हो रही है। साम्प्रत अँग्रेजी कविता में विज्ञान के अधिक प्रसार से सौन्दर्य का अद्भुत विधान हो रहा है। आवि-ष्कारों द्वारा समुद्र-गर्भ में पायी जाने वाली अनेक मछलियों एवम् जन्तुओं, प्रयोगशालाओं में उपलब्ध अनेक द्रवों एवं पदार्थों से जीवन की सामान्य एवं चिरपरिचित वस्तुओं की उपमा दी जा रही है। इन सब प्रवृत्तियों का मूल कारण सौन्दर्यदृष्टि में आन्तरिकता एवं संश्लिष्टता का अभाव ही सम-झना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य के निरीक्षण एवं उसकी अभिव्यंजना में आन्तरिक संश्लिष्टमयी भावना न होने से उसका प्रभाव क्षणस्थायी एवम् एकदेशीय होता है। इसके कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा चुके हैं। अब यह देखना शेष रह जाता है कि ऐसा होता क्यों है। बात यह है कि यदि हम सौन्दर्य को वस्तुओं के धरातल पर रहने वाले कुछ गुणों तक ही सीमित मान लें तो व्यक्तिगत रुचि, देश एवं कालादि के अनुरूप उसके नाना भेद हो जाते हैं। अनेक रूपता बहुमुखी रूपों में विस्तृत हो जाती है। हिन्दी-काव्य में नायिका-भेद इस अनेकरूपता का अच्छा उदाहरण है। व्यक्तिगत

रुचि को इतना प्राधान्य एवं इतनी प्रमुखता मिल जाती है कि मनुष्य मात्र के हृदय को छू सकने की शक्ति का निरन्तर ह्रास होने लगता है। अतः काव्य की रचना सदा ऐसी भूमि पर करनी पड़ती है, जो मानव की सामान्य भावनाओं के योग से तैयार हुई हो। भारतीय साहित्यकारों ने इन्हीं को 'साधारणीकरण' कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो साहित्य एवं काव्य के क्षेत्र में यही 'साधारणीकरण' आवश्यक एवं वांछनीय है। आज कला के क्षेत्र में जो एकांगदर्शिता बढ़ रही है और जिसका विरोध जानकार एवम् समझदार क्षेत्रों में बराबर हो रहा है उनका मूल कारण इसी साधारणीकरण का अभाव है। साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक युग आया करते हैं जब नवीनता एवं विचित्रता के नाम पर अपरिचित सौन्दर्यमयी वस्तुओं का ढेर लग जाता है, जिनमें जन समाज की चित्तवृत्तियों का कोई सहयोग नहीं होता। कला के ऐसे रूपों के समर्थन के लिए कुछ 'वादों' की सृष्टि भी कर ली जाती है। इस स्थान पर इस प्रकार के प्रचलित वादों की समीक्षा वांछनीय नहीं। पर ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त सौंदर्य दृष्टि का प्रसार काव्य की सर्वानुरक्ति में बाधक ही होता है।

ऊपर सौन्दर्य के सम्बन्ध में जिस सामूहिक भावना को साथ रखने का आग्रह किया गया है, उसके आधार पर यह आक्षेप हो सकता है कि इस दशा में सौन्दर्य उद्भावना सम्पन्न व्यक्ति के लिए अपनी कल्पना की क्रीड़ा के लिए क्या स्थान रह जाता है। यदि सौन्दर्य को इस प्रकार की संकुचित सरणियों में ढाला जायगा, तो संसार और जीवन के विस्तृत सौन्दर्य का क्या होगा। इसका उत्तर प्रत्यक्षतः कुछ कठिन अवश्य है पर मूलतः इसे सरल ही समझना चाहिए। साहित्यिक पद्धति के अनुसार इस प्रकार का 'तिरस्कृत सौन्दर्य' पहले कला के क्षेत्र में सदा अप्रस्तुत रूप में विदित होता है, एवं तदुपरान्त धीरे-धीरे वह प्रस्तुत के क्षेत्र में आने लगता है। दूसरे स्वतन्त्रतः सौन्दर्य का कला या साहित्य के क्षेत्र में कुछ स्थान नहीं हुआ करता। जो सौन्दर्य जन समाज की चित्तवृत्तियों के सहयोग पर अवलम्बित नहीं होता, भावनाओं का स्फुरण नहीं करता वह कितना भी नवीन एवं विचित्र होता हुआ काव्य एवं कला की मूल आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता। अँगरेजी साहित्य के 'रोमान्टिक युग' में साहित्य में इस प्रकार के बहुत से सुन्दर पदार्थों का प्रवेश हुआ, जो जीवन से अनुप्राणित नहीं थे। जो कलाशास्त्री सौन्दर्य के विधान में जीवन के सहयोग की आवश्यकता नहीं समझते, वे ही वर्तमान समीक्षा साहित्य में 'कलावादियों' के नाम से अभिहित हैं, और

उनका 'कलावाद' सर्वज्ञात है।

इस लेख के आरम्भ में सौन्दर्य के जो आन्तरिक एवं बाह्य नामक दो भेद किये गये थे, उनमें से बाह्य सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ विवेचन हो चुका। परन्तु इस रूप के सम्पूर्ण विवेचन करने के पूर्व हमें आन्तरिक सौन्दर्य पर भी यत्किंचित् दृष्टिपात करना पड़ेगा। हमें इस बात का विवेचन करना होगा कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है—वे एक दूसरे के सहयोगी हैं अथवा विरोधी। बाह्य-सौन्दर्यमयी वस्तुओं के रूप रंग आकारादि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है। यही ज्ञान धीरे-धीरे भावनागम्य बनने लगता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी फूल के सुन्दर रंग से प्रभावित होते हैं, तो तत्कालिक कारण तो नेत्र सुखदता ही होती है, पर अन्ततः उसका संबंध हमारी इन्द्रियों का क्षणिक उत्कंचन न होकर भावनाओं की सुखदता होती है। वह फूल हमारे लिए त्याज्य है अथवा ग्राह्य, उसकी प्राप्ति हमारे लिए सुखद क्यों होगी, हम उसे सूँघकर सुखी होंगे आदि भावनाएँ मन में सहसा आने लगती हैं। देखने पर पता चलेगा कि इन सब भावनाओं का मूल कारण नेत्र सुखदता ही नहीं है। इसका सीधा सम्बन्ध हमारी उस मनोवृत्ति से है जो संश्लिष्टमयी है एवं एक इन्द्रिय को सुख अथवा दुख देने वाले पदार्थ का मूल्य अन्य इन्द्रियों की दृष्टि से आँका करती है। कहने का अर्थ यही है कि स्थूल इन्द्रियों के अतिरिक्त हमारे पास सौन्दर्य-निर्णय के लिए एक अन्य वृत्ति भी है। सौन्दर्य-निरूपण सम्बन्धी इस वृत्ति का कार्य केवल वर्तमान एवं दृश्य-जगत तक ही सीमित नहीं रहता। अतः इस वृत्ति द्वारा जो सौन्दर्य निर्णीत होता है उसे आंतरिक सौन्दर्य समझना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब हम सौन्दर्य का विवेचन इस दृष्टि से करते हैं, तो उसमें विविधरूपता का निरन्तर ह्रास होने लगता है। सौन्दर्य के व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर रहने वाले भेद तिरोहित होने लगते हैं। समस्त जगत एवं जीवन का सौन्दर्य हमारे समीप खिंचता हुआ-सा दीख पड़ता है सौन्दर्य की इसी समान भाव-भूमि पर काव्य का सच्चा साधारणीकरण होता है।

बाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य का इतने रूप का स्पष्टीकरण हो जाने के पश्चात् अब सौन्दर्य के इन दो रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध-निरूपण कुछ कठिन नहीं हो जाता। काव्य के विस्तार के लिए यह परम आवश्यक है कि बाह्य सौंदर्य का यथेष्ट निरूपण किया जाय और नाना रुचियों एवं दृष्टियों से कला के

क्षेत्र में उसका विधान हो पर अन्ततोगत्वा साहित्य में उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसका मूल्यांकन मानव की सनातन भावनाओं के आधार पर हो। जिस प्रकार किसी नदी के लिए वर्षा के कीचड़ वाले जल से भर जाना उसके शरत्कालीन वैभव के लिए परम आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार साहित्य सरिता के लिए भी नाना रुचि-निर्भर सौन्दर्य के उपरान्त मानवता की समान भूमि पर टिके सौन्दर्य की आवश्यकता है।

ले०—डा० श्री० नगेन्द्र एम० ए० डी० लिट्—

साहित्य और कल्पना

कल्पना शब्द क्लृप् धातु से बना है जिसका अर्थ है (करने की) सामर्थ्य रखना (सृजन करना)—'यथापूर्वमकल्पयत्' । विदेश के साहित्यशास्त्र में कल्पना का बड़ा गौरव है । काव्य के चार प्रमुख तत्वों में सभी ने उसका स्थान सर्व-प्रमुख माना है । संस्कृत के रसशास्त्र में कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकृत की गयी है । भारतीय दर्शन के अनुसार अन्तःकरण के चार अङ्ग हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार । यद्यपि इन चारों की परिधियाँ मिली जुली हैं, फिर भी उनके धर्मों का स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट है । मन को, न्याय में संकल्प विकल्पात्मक कहा है 'संकल्पविकल्पात्मकं मनः' । सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन ही है । संकल्प और विकल्प ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य हैं यद्यपि उनका सीधा सम्बन्ध उससे नहीं है । संकल्प का तात्पर्य अनुभूति वस्तु से सम्बद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है - विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणाएँ हैं । प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रतिबिम्ब प्रभाव (Impression) पड़ते हैं, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है । "यही मन वकील के सदृश कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश करता है । इसीलिए इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा गया है ।"—(गीतारहस्य) और यही पश्चिमी दार्शनिकों के मत से कल्पना का भी सबसे साधारण और पहला धर्म है । इस प्रकार मन ही कल्पना का आधार सिद्ध होता है । इसी विवेचन को कुछ और स्पष्ट करते हुए राय बहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं - परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान । सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है । जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है ।...

इस प्रकार के ज्ञान को 'पत्भिज्ञान' कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर 'स्मरण' शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं""""मान लीजिये कि उक्त मनुष्य एक अङ्गरेज है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमें उस सन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रङ्ग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन में उस अङ्गरेज का सूट बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं, और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अङ्गरेज सन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है।"""" मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली जिनका अस्तित्व बाह्य-जगत् में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" एक प्रकार से अचेतन दशा में जो स्वप्न अवस्था है—वही चेतन दशा में कल्पना की अवस्था समझनी चाहिए।

यह तो रहा कल्पना का तत्व-दृष्टि से विवेचन। रसदृष्टि से विवेचन करते समय हमारा रस-शास्त्र कुछ अधिक सहायता नहीं देता। यह बात नहीं कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वास्तव में उसकी सत्ता के बिना तो कोई काव्य-शास्त्र एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्व माना है—और यहाँ अनिवार्य उपकरण! काव्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो। संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र का 'स्वाभावोक्ति' विषयक वाद-विवाद मेरे कथन की पुष्टि करेगा। चित्त को चमत्कृत करने की जिस शक्ति का उल्लेख हमारे यहाँ स्थान स्थान पर मिलता है। वह और कुछ नहीं शब्द-भेद से काव्य का वही गुण है जिसे अँगरेज रसाचार्य एडीसन ने कल्पना का प्रसादन (Appeal to imagination) कहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य की आत्मा ध्वनि का आधार कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है? व्यंजना सौ फीसदी कल्पना के आश्रित है। "सूर्यास्त हो गया।" व्यञ्जना का यह उदाहरण रस-शास्त्रियों में बहुत प्रसिद्ध है। इसको सुनते ही प्रत्येक श्रोता अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेगा; ग्वाला घर लौटने का, विद्यार्थी सन्ध्यावन्दन करने का, अभिसारिका संकेत स्थल की ओर प्रस्थान करने का—इत्यादि। मन की जिस शक्ति द्वारा यह अर्थ ग्रहण सम्भव है—वही वास्तव में कल्पना है। इसी

प्रकार गुणी-भूत व्यंग्य काव्य में भी कल्पना का आधार निश्चित है।

कल्पना को साधारणतः प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है—और एक निर्दिष्ट सीमा तक स्थूल रूप में यह सत्य भी है। कल्पित और सत्य (घटित के अर्थ में) में इसी दृष्टि से पार्थक्य भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, नाट्य-शास्त्र कहता है कि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक (सत्य अथवा घटित) और प्रकरण की कल्पित (काल्पनिक) होनी चाहिए। कपोल-कल्पित आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कल्पना प्रत्यक्ष के सर्वथा अनाश्रित नहीं हो सकती। हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवों का हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। इसीलिए तो कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गयी है जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाँधे रहता है।

कल्पना के स्वरूप की थोड़ी व्याख्या करने के उपरान्त, अब उसके काव्य-गत विभिन्न प्रयोगों का विवेचन करना संगत होगा।

सबसे पूर्व तो उसका प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष जगत् में हम जो कुछ देखते या सुनते हैं उसके विषय में हमारे मन में अनेक भाव-तरंगें अनायास ही उठने लगती हैं—मन इनको समवेत कर चित्रों के रूप में परिणत कर देता है। यह मन की वही प्राथमिक क्रिया है जिसका विवेचन तिलक महाराज ने अपने गीता-रहस्य में किया है। काव्य की दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं, यद्यपि स्थूल वस्तु-दर्शन में इसी का प्रयोग होता है। (इस युग की टेकनीक में सम्भव है, इसका मूल्य बढ़ जाय) परन्तु साधारणतः मन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उस चित्र को अपने अनुरूप गढ़ना चाहता है और इस प्रकार उसमें अपनी रुचि के अनुसार काट-छाँट करता रहता है। इसी को विक्टर कजिन ने "अनजाने में प्रकृति की आलोचना" कहा है। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में मन का यह कार्य आदर्शी-करण (Idealization) के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप ही आप बिना किसी प्रयत्न के होता रहता है, और काव्य में तो प्रयत्नपूर्वक भी इसका बचाव नहीं हो सकता। हाँ, भावप्रधान रचनाओं में इसका उपयोग मुख्य और वस्तुप्रधान कृतियों में अपेक्षाकृत गौण होता है। आगे चलकर भावना-विशेष पर केन्द्रित होकर कल्पना का यही प्रयोग प्रतीकों का सृजन करने में समर्थ होता है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग अलङ्कारों (अप्रस्तुत-विधान) में किया जाता

है। साम्य और वैषम्य मूलक जितने अलङ्कार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलङ्कारों में साम्य की स्थापना और विरोध, विषम, विभावना आदि वैषम्य-मूलक प्रयोगों में वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है। अतिशयोक्ति में भी यही बात है। साम्य में समानधर्मा वस्तुओ का, वैषम्य में विपरीत-धर्मा वस्तुओं का और अतिशयोक्ति में दूरस्थित वस्तुओं का समीकरण किया जाता है।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल,
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ हों ज्यों कहीं पार।

अनुपात का ध्यान न होने से यही समीकरण विचित्र तमाशे खड़े कर देता है। संस्कृत, हिन्दी रीति-साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। फारसी और उर्दू में भी इसी तरह तखैयुल के साथ काफी खिलवाड़ हुई है। पन्त की 'स्याही का बूंद' कविता पेश की जा सकती है।

'गोल तारा-सा नभ से कूद'!

यहाँ बूँद में और तारे में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है—परन्तु अनुपात को सर्वथा भुलाकर!

कल्पना का तीसरा प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। किसी सीधे-सादे व्यक्ति को यह कहते हुए सुनकर कि 'मैं तो अमुक चित्र, अथवा मूर्ति, अथवा कविता में कोई विशेषता नहीं देखता—" हम प्रायः कह उठते हैं—"तुम्हारी कल्पना निर्धन है।" यहाँ कल्पना का तात्पर्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता से है। शब्द शक्ति लक्षणा का सम्बन्ध कल्पना के इसी अर्थ से है। यदि कलाकार अपनी मनोदशा को प्रेषणीय (Communicable) नहीं बना सकता तो कलाकार में कल्पना की कमी है—और अगर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक उस मनोदशा को ग्रहण करने में मंथर है, तो यह उसकी कल्पना की दीनता कही जायगी। यही कारण है कि भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों को कल्पनाहीन पाठक सरलता से नहीं समझ सकता।

इसके अतिरिक्त कल्पना का प्रयोग होता है आविष्कार के अर्थ। में इसी दृष्टि से वैज्ञानिक आविष्कर्ताओं को उत्कट कल्पनाशील कहा जाता है। काव्य में इस प्रकार का प्रयोग अद्भुत दृश्यों के चित्रण में, असम्भाव्य घटनाओं के

विधान में, अपार्थिव स्त्री पुरुषों के सृजन में किया जाता है। हिन्दी का उपन्यास 'चन्द्रकान्ता संतति' इसका अमर उदाहरण है। यहाँ कल्पना दूर की कौड़ियों को इकट्ठा तो कर देती है, परन्तु उनका सम्यक् समन्वय नहीं कर सकती। इसीलिए उनमें भराव नहीं आ सकता—और यही कारण है कि इस प्रकार की कृतियों से हमारी मनस्तुष्टि नहीं हो सकती।

कल्पना का एक मुख्य कार्य है गैप (रिक्त स्थान) भरना। अर्थात् विषमताओं का एकसार करना। जगत् में हम देखते हैं वस्तुएँ पूर्ण नहीं हैं—उनमें न्यूनताएँ एवं दोष हैं—अर्थात् उनमें बीच-बीच में स्थान रिक्त रह गये हैं। बस हमारी कल्पना आप ही आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती है। ऐसा करने के लिए उसको उन स्थानों के रिक्त होने का कारण खोजना पड़ता है। और वह देखती है कि वास्तव में उन वस्तुओं के विभक्त अङ्गों में परस्पर सम्बन्ध था जो विशेष व्यति क्रमों से अब टूट गया है। इस प्रकार हमारी कल्पना उन लुप्त परन्तु संगत संबन्धों का पुनर्स्थापन कर समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसी को अँगरेजी में फ़ार्म कहते हैं। काव्यगत टेकनीक में कल्पना का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा जान बूझ कर ही किया जाय। अनजाने में भी हमारी कल्पना प्रायः यह कार्य करती रहती है।

अब कल्पना का सबसे अन्तिम एवं सशक्त प्रयोग रह जाता है, जिसका अङ्गरेज कवि समालोचक कॉलरिज् ने वर्ड्सवर्थ-काव्य के प्रसंग में इतने जोरदार शब्दों में विवेचन किया है। "इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने क़ल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असंबन्ध-गुणों का एक दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एक रूपता का अनेक रूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम (अनुक्रम) के साथ अथवा चिर जाग्रत विवेक एवं स्वस्थ आत्म संयम का दुर्दम उत्साह तथा गम्भीर भावुकता के साथ।""इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ निकालता है, और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना (Healthy imagination) कहा है। कल्पना का यह रूप कवि की सबसे बड़ी गौरव-कसौटी है, क्योंकि इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्हीं विश्वदर्शी कलाकारों में हो सकती है, जिनके हृदय विशाल हों, जो जगत् की विभिन्नताओं को

पचा सकें।

खल और संत समाज की एक श्वास में वन्दना करने वाला तुलसीदास, विश्व की विषमताओं को एक रस होकर ग्रहण करने वाला शेक्सपियर, शैतान के विद्रोह और ईश्वर के न्याय पर एक साथ मुग्ध होने वाला मिल्टन, राम का अनन्य भक्त होते हुए भी, उनके विरोधियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला मैथिलीशरण, अथवा इसी कोटि का कोई अन्य कवि ही इतना ऊँचा उठ सकता है। कल्पना का यह प्रयोग समस्त काव्य में नहीं एक वाक्य तक में सफलता से हो सकता है। अंगरेजी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक रिचर्डस ने इसी दृष्टि से ट्रेजेडी काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण स्वरूप माना है क्योंकि उसमें भय (जो हमें पात्र से दूर हटाता है) और करुणा (जो पात्र के प्रति आकृष्टि करती है) का पूर्ण सामंजस्य होता है।

अंगरेजी में कल्पना के लिये एक और शब्द प्रयुक्त होता है। फैन्सी (Fancy) जिसका अर्थ साधारणतः कल्पना की ललित क्रीड़ा समझा जाता है। कालरिज ने उसका जो अर्थ किया है, (स्मरण का एक प्रकार) वह हमारी समझ में नहीं आता, और न वह प्रचलित अर्थ ही है।

कल्पना के ये ही प्रमुख रूप हैं। उसके विभिन्न प्रयोग इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं? परन्तु फिर भी उनकी पृथक् सीमाओं का निर्देश करना साहित्य के विद्यार्थी के लिए उतना ही कठिन है जितना दार्शनिक के लिए निश्चय-पूर्वक यह कहना कि कल्पना केवल मन की ही क्रिया है अथवा मन बुद्धि और चित्त तीनों की।

श्री मनोरञ्जन एम० ए०—

रोमांस या रोमांच

अङ्गरेजी के रोमांस (Romance) शब्द में जो जादू है, उसे वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने अङ्गरेजी साहित्य का अध्ययन किया है। इस शब्द का उच्चारण करते ही नैनों में एक नया संसार आ बसता है और हृदय में कुछ ऐसे अद्भुत, मधुर तथा रोचक भाव उत्पन्न हो आते हैं, जिनका समुचित रूप से वर्णन करना शब्द-शक्ति के परे है। वे पुरानी, भूली हुई, दूरवर्ती घटनाएँ, वे पुरानी लड़ाइयाँ, जो न-जाने किस जमाने में हुई थी।

"....old forgotten, far-off things
And battles long ago."

—Wordsworth

अथवा वे जादू की खिड़कियाँ, जो संकटों से भरे हुए फेनिल समुद्र की ओर खुलती हैं, जिनके उस पार है परियों का देश, एक अजीब विजन में—

"...Magic casements opening on the foam
Of perilous seas and fairy lands forlorn."

—Keats,

और न-जाने कौन-कौन से दृश्य आँखों के आगे आ खड़े हो जाते हैं, जिनको संख्या में व्यक्त करना असम्भव-सा है। सुप्रसिद्ध विद्वान् डब्ल्यू० पी० केरने 'रोमांस' पर लिखते हुए यहाँ तक कह दिया है—

"Romance means almost every thing from the two horsemen riding togther at the beginning of the historical novel or from the pasteboard Moors of the puppet-show the spell of the enchanted, ground, the music of dreams and shadows."

किसी ऐतिहासिक उपन्यास के प्रारम्भ में जाते हुए दो अश्वारोहियों अथवा कठपुतली की नाच में बनाये हुए काठ के मूरों से लेकर तिलस्मि के जादू अथवा स्वप्न तथा छाया के संगीत तक सभी हम 'रोमांस' कह सकते हैं।

है कि जब किसी देश को पूर्णतया गुलाम बनाना होता है, तब विजेता लोग सबसे पहले उसकी भाषा और साहित्य पर आक्रमण करते हैं। फिर तो— 'मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है।' उस देश में जान नहीं रह जाती। ठीक उसके विरुद्ध जब किसी देश को अपनी उन्नति करनी होती है, तो सबसे पहले वह अपनी भाषा की उन्नति की ओर ध्यान देता है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल;
बिन निज भाषा-ज्ञान के मिटत न उर को शूल।

कहते हैं कि यही बात तत्कालीन फ्राँस के ऊपर लागू हुई। उसके रोमन विजेताओं ने उस पर अपनी भाषा लादनी चाही। वहाँ वालों ने उसका विरोध किया और अपनी ही भाषा चलाई, जिसका नाम करण हुआ 'रोमांस'। इतना ही नहीं कि विजेताओं की भाषा से विरोध हो, बल्कि उनके साहित्य में वर्णित पुराने विषयों को छोड़कर नये विषयों पर लिखने की भी उनकी प्रवृत्ति हुई। विरोध हो तो पूरा हो। अतः एक नये साहित्य की भी सृष्टि हुई और उसका नाम भी 'रोमांस' ही हुआ। इस प्रकार 'रोमांस' शब्द का दूसरा अर्थ हुआ—'A tale in verse, embodying the adventure of some hero of chivalry, especially of those of the great Cycles of Mediaeval legend and belonging both in metter and from to the ages of knighthood." Murray.

संक्षेप में यों कहें कि पद्य में वीरगाथा।

धीरे-धीरे 'रोमांस' शब्द का प्रयोग उन सभी भाषाओं के लिए होने लगा, जो लैटिन से उत्पन्न हुई—

"In later use extended to related forms of speech as Provencal and Spanish and commonly used as a generic or collective name for the whole group of languages descended from Latin.

इसी प्रकार गद्य में लिखी गई कहानियों के लिए भी बाद में इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

— २ —

इंगलैण्ड में यह शब्द पहले-पहल चौदहवीं शताब्दी में आया, जबकि देशी फ्रेंच अथवा स्पेनिश भाषा में लिखी गई किसी भी पुस्तक के लिये इस शब्द का प्रयोग होता था। फिर धीरे-धीरे पुस्तक से वह शब्द विषय पर

उतर आया, जब कि उसका अर्थ हुआ—वीरगाथा।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में उसका अर्थ और भी व्यापक हो गया और वह दूरवर्ती असाधारण घटनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अठारहवीं सदी में खुलेआम उसका विरोध होने लगा, किन्तु उसके अन्तिम चरण में एक बार और 'रोमांटिक' विषयों की ओर जबर्दस्त लहर चली, जिसमें कल्पना को विशेष प्रधानता दी गई, और अब साधारण शब्द कोषों में और अर्थों के साथ उसका यह अर्थ भी हो गया—

"Any fictitious and wonderful tale; a fictitious narrative in prose or verse which passes beyond the limits of real life."
—कोई भी कल्पित और अद्भुत कथा; गद्य या पद्य में असम्भव कथा।

इसी प्रकार एक दूसरी डिक्शनरी में अर्थ दिया हुआ है—"A story telling of people and events unlike those of every day life; the class of fiction which consists of such stories of ideas and action suggestive of chivalry, adventure and mystry; an affair of a strange or adven nture; a love affair."

किन्तु सब कुछ होने के बाद भी कुछ कहने को रह ही गया, और वह 'कुछ' क्या है, यह कहना बहुत कठिन है। उसके लिए बस 'समुझि मनहि मन रहिए' की ही व्यवस्था ठीक है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के लेखक ने कहा है—"Incapable of exacter definition inclining towards the vague it is nevertheless comprehensible for all its vagueness and informal as it is, possesses its own form of beauty and that a precious one."

परिभाषा के बन्धन में हम रोमांस को नहीं बाँध सकते; किन्तु उसके उच्चारण से हृदय में जो भाव उत्थित होते हैं, उनमें कुछ का जिक्र तो हम कर ही सकते हैं। उस अव्यक्त अनजाने भाव के अतिरिक्त सबसे पहले रोमांस शब्द का उच्चारण करते ही हम एक नई-सी दुनियाँ में पहुन्च जाते हैं, जहाँ प्रेम है, जादू है, वीरों की गाथाएँ हैं, जहाँ अतिमानव, अतिदानव, सबकी रसाई है, जिसमें सब प्रकार की रोमहर्षक घटनाओं का प्राचुर्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम लोगों के साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ हैं अथवा नहीं। और यदि हैं, तो हम उन्हें क्या कहते हैं और उनका

नामकरण ठीक है अथवा किसी दूसरे नामकरण की आवश्यकता है।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में ही मैंने रोमांस वाले लेख में यह भी देखा कि— "The such (romantic) matter was abundant in the literature and folklore of the East we know."—हम अच्छी तरह जानते हैं कि पूर्व के साहित्य तथा लोक-कथाओं में इस प्रकार की 'रोमांटिक' सामग्रियों का प्राचुर्य था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि अपने यहाँ के रोमांटिक साहित्य की सृष्टि में पश्चिमवालों ने पूर्व के साहित्य से काफी सहायता ली है।

बात भी ठीक है अलिफलैला की कहानी, किस्सा हातिमताई; चहारदरवेश आदि अरबी-फारसी की किताबें तो हैं ही, हम जब अपने संस्कृत-साहित्य की ओर दृष्टि डालते हैं, तो मालूम होता है कि वे जिसे रोमांस कहते हैं, उसके गुणों का हम लोगों के दशकुमारचरित, कथासरित्सागर, कादम्बरी इत्यादि में प्राचुर्य है। यों तो हमारे पुराणों में भी उन गुणों की कमी नहीं, और यदि सच पूछा जाय, तो उनके यहाँ उनके Saints Lives का जो महत्त्व है, उससे कहीं बढ़कर महत्त्व हमारे यहाँ हमारे पुराणों का है।

और हमारी कादम्बरी तो सोलहों आने रोमांस है—एक वैसी नई दुनिया, जिसके एक-एक कण पर जगत न्यौछावर है; वही कुमारी, वही प्रेम, वे ही सारी अन्यान्य बातें। पुंडरीक, महाश्वेता, चन्द्रापीड़, कादम्बरी, वैशम्पायन इत्यादि के नाम सुनते ही हृदय में कैसे भाव उठ आते हैं, उन्हें क्या कोई व्यक्त कर सकता है? वही तो रोमांस है—सच्चे अर्थ में रोमांस। किन्तु हम उसे क्या कहते हैं—'गद्यकाव्य' गद्य में काव्य ठीक ही है। काव्य का जो व्यापक अर्थ है, उसके अन्तर्गत सभी कुछ आ जाता है; किन्तु मेरे जानते आवश्यकता है उसे कुछ और संकुचित करके इस चीज के लिए नया नामकरण करने की।

इसी प्रकार हिन्दी में जो चन्द्रकान्ता है, वह भी पूर्णतया रोमांस है; किंतु हम उसे केवल उपन्यास कहते हैं, और यदि किसी विशेष श्रेणी में उसे विभक्त करना होता है, तो हम कहते हैं कि वह ऐयारी और तिलिस्म का उपन्यास है। अब प्रश्न यह है कि इतनी बड़ी व्याख्या के बदले हम क्या कोई छोटा-सा नामकरण नहीं कर सकते।

गद्य-काव्य सुन्दर शब्द है; किन्तु उससे कहानी का बोध नहीं होता, और अब हिन्दी में उसका प्रयोग भी एक सीमित अर्थ में होने लग गया है और वही प्रयोग ठीक भी प्रतीत होता है। बँगला से अनूदित 'उद्भ्रान्त

प्रेम', राय कृष्णदास जी की 'साधना', सुधांशुजी का 'वियोग' तथा श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरड्या की 'शबनम' इत्यादि गद्य-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और उनके लिए इस शब्द का प्रयोग समुचित भी है।

कादम्बरी जब लिखी गई थी, तब उसके लिए गद्य-काव्य का प्रयोग भले ही ठीक रहा हो; किन्तु अब तो हमें कोई दूसरा नामकरण करना होगा। उसी प्रकार उपन्यास का प्रयोग अब हिन्दी में प्रायः सभी बड़ी कहानियों के लिए होने लग गया है। अस्तु, उसमें कुछ विभाग करने होंगे, और यदि चन्द्रकान्ता तथा कपाल-कुण्डला इत्यादि के समान किताबों के लिए कोई और नया नाम मिल जाय, तो अच्छा ही होगा। अङ्गरेजी में जब इनके लिए किसी नाम करण की आवश्यकता होगी, तब हम इनके लिए 'रोमांस' शब्द का ही प्रयोग करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं : किन्तु हिन्दी में हम इन्हें क्या कहें, मुझे यही चिन्ता हुई।

— ३ —

अस्तु, मैंने अङ्गरेजी-संस्कृत-शब्दकोष उठाया, क्योंकि जब हिन्दी में हमें नये शब्दों की आवश्यकता होती है, तो सबसे पहले हमें संस्कृत की ही शरण लेनी होती है। तदनुसार सबसे पहले मैंने आप्टे का अंगरेजी संस्कृत-शब्द कोष उठाया। रोमांस का अर्थ था आख्यायिका, कल्पित कथा। मुझे दोनों में से एक भी शब्द रोमांस के लिए पसन्द नहीं आया। आख्यायिका सुन्दर शब्द है अवश्य; पर वह रोमांस के भाव व्यक्त नहीं करती, इसके अलावा उसका प्रयोग हमारे यहाँ ऐतिहासिक कथाओं के सम्बन्ध में हुआ करता है।

फिर मैंने जरा मोनिअर विलियम्स की डिक्शनरी उठाई। अंगरेज हैं— ठीक ही अर्थ किया होगा; किन्तु उनके अर्थों को देखकर दंग रह जाना पड़ा। रोमांस का अर्थ था—'अद्भुत कथा, कल्पित कथा, कूटार्थ कथा, कूटार्थोपाख्यानम्, अभूत कथा, असम्भव कथा, मृषार्थक कथा, भण्डपुराणम्, महात्म्यम्, अद्भुतरसात्मिका कथा।'

अब इन सब अर्थों से स्पष्ट हो गया होगा कि ऊपर मैंने 'रोमांस' शब्द की जो व्याख्या की है, उस व्याख्या के अनुसार इन अर्थों में से कोई भी अर्थ सोलह आने ठीक नहीं उतरता। ये अर्थ 'रोमांस' शब्द के एक-एक अंग को लेकर निर्मित हुए हैं और भण्डपुराणम् तो सबसे अधिक कमाल का। अस्तु, इनमें से एक शब्द को भी हम 'रोमांस' शब्द का पूर्णतया पर्यायवाची नहीं कह सकते।

इस प्रकार शब्दकोषों से निराश हो, मैंने अपने कुछ गुरुजनों तथा मित्रों

से 'रोमांस' शब्द की व्याख्या पूछी। उनमें से एक ने बतलाया- 'रोमांच-कारी उपन्यास'। बात कुछ जँची जरूर; किन्तु उतने छोटे-से शब्द के लिए इतना बड़ा शब्द क्यों ? और फिर रोमांचकारी शब्द अब हिन्दी में एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने लग गया है, जिससे अधिकतया भयङ्कर का बोध होता है। अस्तु, वह शब्द भी कान को खटकता है, कर्कश बोध होता है, अग्राह्य है।

तब फिर एकाएक मुझे यह ख्याल हो आया कि क्यों न हम 'रोमांस' के लिए केवल 'रोमांच' शब्द का ही प्रयोग करें ? शब्दसाम्य तथा ध्वनि-साम्य तो है ही, अर्थसाम्य भी उसमें कम नहीं, बल्कि अधिक ही है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ अँगरेजी के 'रोमांस' शब्द में वे भाव पहनाए गए हैं, वहाँ हमारे 'रोमांच' शब्द में वे भाव आप से आप वर्तमान हैं।

प्रेम में 'रोमांच' होता है, जैसे कि साहित्य-दर्पण में कहा गया है—'स तु सात्त्विकभावानामन्यतमः'। इसी प्रकार बिहारी सतसई में भी हम देखते हैं :—

स्वेद सलिल रोमांच कुस लै दुलही अरु नाथ;
हियो दियो सँग हाथ के हथलेवा ही हाथ।

इस प्रकार उस मधुर रस की अभिव्यक्ति 'रोमांच' शब्द द्वारा होती है, जो अङ्गरेजी 'रोमाँस' का एक विशेष विषय है—a love-affair—प्रेमलीला।

साथ ही हम साहित्य-दर्पण में यह भी देखते हैं कि 'हर्षाद्भुद्भयादीनां रोमांचो रोमविक्रिया'—हर्ष के प्रकरण में, विस्मय के प्रकरण में, भय के प्रकरण में तथा अन्यान्य और कितने ही अज्ञात प्रकरणों में 'रोमांच' होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंगरेजी के 'रोमांस' शब्द में जिन-जिन भावों का समावेश युग-युग के प्रयोग से किया गया है, वे सभी भाव हमारे 'रोमांच' शब्द में पहले से ही वर्त्तमान हैं। वे जादू की खिड़कियाँ, परियों का देश इत्यादि विस्मयकारक पदार्थ, युद्ध इत्यादि भयकारक तथा रोमांचक घटनाएँ एवं वे अव्यक्त भाव जिनकी अभिव्यक्ति हम शब्दों द्वारा नहीं कर सकते हैं और जिनका समावेश साहित्य-दर्पण के 'भयादीनाम' में हो जाता है—सभी 'रोमाँच' शब्द में पाये जाते हैं।

इतना ही नहीं, बल्कि हम तो यह कहेंगे कि हमारे 'रोमांच' शब्द में जो भाव हैं, उन्हें पूर्णतया व्यक्त करना 'रोमांस' शब्द की भी शक्ति के बाहर है। हमारे आचार्यों ने तो साफ-साफ यहाँ तक कह दिया है कि—

यत्रतत्र रसोत्कर्षः श्रूयते दृश्यतेऽपि वा,
स्वप्रीत्यभिगमेनासौ रोमांचः सर्वभावजः ।

बस, 'अलमति विस्तरेण' । 'रोमांचः सर्वभावजः'—रोमांच सभी भावों से उत्पन्न होता है । जहाँ-जहाँ भी रस का उत्कर्ष देखा अथवा सुना जाता है, वहाँ-वहाँ हम 'रोमांच' का उद्गम देखते हैं । फिर और क्या कहा जाय ?

सच्ची बात तो यह है कि यदि हमें अङ्गरेजी के 'रोमांस' शब्द का उद्गम मालूम न होता, तब तो शायद हम यही कह बैठते कि यह 'रोमांस' शब्द हमारे 'रोमांच' शब्द से ही उद्धृत हुआ है, क्योंकि इटालियन भाषा जानने वाले जानते हैं कि उनके यहाँ बीच में आये हुए 'c' (सी) अक्षर का उच्चारण 'च' होता है । केवल अङ्गरेजी जानने वाले आजकल मुसोलिनी के लिए प्रयुक्त होने वाले Duce शब्द को 'ड्यूस' पढ़ते हैं ; किन्तु है वह 'डुचे' । इसी प्रकार अंगरेजी शब्द 'रोमांस' को यदि कोई अङ्गरेजी न जानने वाला इटालियन पढ़ेगा, तो उसे 'रोमांचे' ही कहेगा । तो क्या यह साम्य केवल आकस्मिक है ? हम जानते हैं कि यह 'रोमांस' अँगरेजी तथा अन्यान्य पाश्चात्य भाषाओं में इटली होकर ही गया है । तो क्या यह सम्भव नहीं है कि संस्कृत से हमारा 'रोमांच' शब्द इटली में गया हो और वहाँ से अन्यान्य भाषाओं में प्रचलित हो गया हो ? पाँच सवारों में नाम लिखने वाले कितने ही 'रिसर्चकॉलर' इसी बात को लेकर उड़ जा सकते हैं ।

किन्तु 'रोमांस' शब्द का पूरा इतिहास जान लेने के बाद तो वैसा कहना हास्यास्पद ही होगा । फिर भी हम देखते हैं कि युग-युग के परिवर्तन के बाद आज 'रोमांस' शब्द ने जिन भावों को ग्रहण किया है, हमारे 'रोमांच' शब्द में वे भाव पहले से ही वर्तमान हैं । फिर क्यों न हम 'रोमाँस' शब्द के लिए बहुव्रीहि में 'रोमाँस' शब्द का ही प्रयोग करें ? यह कहने के बदले कि यह एक 'रोमाँस' है, क्यों न हम कहें कि यह एक 'रोमाँच' है ? इसी प्रकार 'रोमाँटिक' शब्द के लिये क्यों न हम पर्यायवाची शब्द बनावें—'रोमाँचक' ? मैं इस प्रश्न पर अपने विद्वानों का मत जानना चाहता हूँ ।

श्री रतनलाल परमार—

रस और आनन्द

यों साहित्य में नव रस हैं, आयुर्वेद में छः और कतिपय अन्य विषयों में भी रस के अनेक प्रकार और रूप हो सकते हैं; परन्तु यहाँ तो हम रस की मूल प्रवृत्ति का ही विवेचन करेंगे।

रस, काव्य का मूलाधार है—कविता का प्रिय प्राण है। आत्मा की अभिव्यक्ति रस के द्वारा साहित्य में होती है। अतः रस को "ब्रह्मानन्द सहोदर" भी कहा गया है।

रस, एक प्रवृत्ति है जो समस्त प्राणी संसार में एक अविरल और अविच्छिन्न धारा की भाँति शाश्वत गति से प्रवाहित होती रहती है। यह प्रकृति और परमेश्वर के प्रति हमारा रागात्मक संबंध प्रस्थापित करने का एक महान् एवं मधुर माध्यम है।

रस, ब्रह्म की ही भाँति एक ऐसा सूक्ष्म, नित्य, व्यापक और अगोचर तत्व है कि हम उसका नेत्रों से अवलोकन नहीं कर सकते, करों से स्पर्श नहीं कर सकते, श्रुति से हम उसको ग्रहण नहीं कर सकते, नासिका से उसका घ्राण नहीं ले सकते और जिह्वा से हम उसका आस्वादन भी नहीं कर सकते, परन्तु जिस शक्ति से नेत्र, नासिका, श्रवण, जिह्वा एवं त्वचा रूप, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसी शक्ति के द्वारा ही हृदय भी रसानुभव करता है। हृदय रसोद्रेक का परम पवित्र स्थान है। अतः कहा जा सकता है कि हृदय में भगवान निवास करते हैं।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१ ("रसोवैसः")

वेदों में कहा गया है कि, ईश्वर रस-स्वरूप भी है। यों तो हम रस का विभिन्न रूपों में अनुभव करते हैं। किन्तु ईश्वर जिस रस-स्वरूप में है, वह नितान्त भिन्न है। "रस" शब्द का जब उच्चारण करते हैं, तो हमारे हृदय और मस्तिष्क में एक विचित्र प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। "रस" कहने में य-वर्ग के र-वर्ण का उच्चारण तालू से स्पर्श करके सरलता से प्रस्फुटित हो जाता है। स्मरण रहे—मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र के

नाम का भी उच्चारण इसी र-वर्ण से प्रारम्भ होता है। "राम" कहने में 'र' के उच्चारण से जो लाभ अथवा पुण्य प्राप्त होता है, उससे कम लाभ अथवा पुण्य "रस" (रसो वैसः यह ईश्वर-रस-स्वरूप है) के र-वर्ण के उच्चारण से नहीं हो सकता। "रस" के र-वर्ण का उच्चारण जहाँ "राम" के "र" के समान ही होता है; वहाँ उसका अन्त "स" में जाकर होता है। अर्थात् "रस" का "स" रसो वैसः के "स" के साथ तादात्म्य कर लेता है और यह प्रकट करता है कि, ईश्वर अर्थात् 'राम' रस-स्वरूप भी है।

संसार में जन्म धारण करने वाला प्रत्येक प्राणी माया-पाश में आबद्ध है। इसलिए वह "अहं" स्वरूप है। वर्ण देवता का आदि और अन्त इस "अहं" में समाविष्ट हो जाता है। परन्तु, 'रसोवैसः' के 'रस' के उच्चारण में जब "र" से प्रारम्भ होकर "सः—स" में उसका अन्त होता है तो "अहं" की सीमा "ह" उससे छूट जाती है—"अहं" उसके अन्तर्गत रहते हुए भी उससे परे ही रहता है। इसी प्रकार से रस-रूप ईश्वर में संसार के सम्पूर्ण रस रहते हुए भी वह इन समस्त रसों से विचित्र और पूर्ण है।

जिस प्रकार से 'रस' ईश्वर का एक रूप है, उसी प्रकार से ईश्वर आनंद स्वरूप भी है। इसीलिए, हमारे आर्य ग्रन्थों में ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। हम ईश्वर का सत्, चित् और आनन्द इन तीनों शब्दों द्वारा स्मरण भी करते हैं। जहाँ ईश्वर का स्मरण हम सत् से प्रारम्भ (भिन्न तत्व मानकर) करते हैं, वहाँ आनन्द में उसकी परिसमाप्ति हो जाती है। अर्थात् "आनन्द" में हमारा तादात्म्य हो सकता है। सत्-ईश्वर, संसार, माया और प्राणी आदि के अस्तित्व का द्योतक है। यह प्रथम सोपान है। अस्तित्व के बिना हमारी सृष्टि से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता और रस की उद्भावना भी तब तक नहीं होती, जब तक हम किसी वस्तु से अपनी आत्मा का उत्कट रागात्मक सम्बन्ध प्रस्थापित नहीं कर लेते हैं। संसार में यदि किसी वस्तु का अस्तित्व तो विद्यमान हो; किन्तु, उसमें चैतन्य न हो तो ईश्वर की किसी लीला के न तो हम दर्शन कर सकते हैं; और न किसी रूप का हम आनन्द ही ले सकते हैं, इसलिए जब हम अपने अस्तित्व और चैतन्य को आनन्द में विलीन कर देते हैं—आत्मविभोर हो जाते हैं—तो हमारा उससे तादात्म्य हो जाता है।

आनन्द की व्याख्या करते समय यह व्यक्त कर देना नितान्त आवश्यक है कि सुख और आनन्द में क्या अन्तर है? संसार-यात्रा में सुख का अनुभव प्रत्येक प्राणी प्रायः यत्र तत्र सर्वत्र ही अनायास कर लेता है; पर उसको सदैव

और सर्वत्र आनन्दानुभूति सुलभ नहीं हो सकती। शीतल छाया, सुमधुर नीर, मन्द-सुगन्ध पवन, कमनीय कोयल अथवा पक्षीगण की कलकूक और आह्लाद का सुख सरलता से चाहे तो प्रत्येक प्राणी प्राप्त कर सकता है; परंतु, लोकोत्तर पवित्र रसानुभूति अथवा अद्भुत आनन्दानुभव ईश्वर की परम कृपा किंवा पावन साधना से ही उपलब्ध किया जा सकता है। गीता में आनन्द की व्याख्या करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि, आत्यन्तिक सुख का नाम आनन्द है। यह आनन्दानुभूति अतींद्रिय जगत् का विषय है। बुद्धि और मस्तिष्क की प्रवृत्तियों से भी उच्च अवस्था में यह ग्राह्य होता है। "सुखमात्यन्तिकं यतद्बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्"। गीता

जहाँ सुखोपभोग करते हुए प्राणी वासना के धरातल पर आकर उपस्थित हो जाता है वहाँ आनन्द की अनुभूति करते-करते वह लोकोत्तर स्थिति में पहुँचता जाता है। सुख स्थायी होता है और आनन्द शाश्वत। संसार में प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक आकर्षण सुख की ओर ही रहता है—बस यही स्थिति प्रकट करती है कि हम आनन्द रूप ईश्वर के ही एक अंश हैं। जब प्राणी आनन्द में निमग्न हो जाता है तो उसके चतुर्दिक आनन्द की अमृत वर्षा होने लग जाती है और उसको सृष्टि का प्रत्येक कण आनन्दमय दृष्टिगोचर होने लगता है। ऐसी स्थिति में उस प्राणी का आनन्द रूप ईश्वर से तादात्म्य हो जाता है—जिसको ब्रह्म में लीन होना अथवा मोक्ष प्राप्त करना कहा जाता है।

यदि गम्भीरता से विवेचन किया जाय तो रस और आनन्द में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होगा। रस यदि बीज रूप है तो आनन्द उसका फल है, जिसमें से पुनः बीज रूप के द्वारा किसी क्षेत्र में रसोद्भव हो सकता है। आनन्द का एक स्वाभाविक परिणाम है जिसमें रस का कभी भी अभाव नहीं हो सकता।

रस और आनन्द दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं अथवा कहना चाहिए कि एक ही आकार के दो रूप हैं। रस के बिना आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती और आनन्द के बिना रस की कोई स्थिति नहीं हो सकती। रस से हृदय को शक्ति, शान्त, विकास और भोग (भोगवैषयिक अर्थों में नहीं) प्राप्त नहीं होता है। जिसमें आगे चल कर रस और हृदय का विलीनीकरण हो जाता है। इस प्रकार से रस और हृदय के समन्वय के द्वारा अस्तित्व एवं चैतन्य (सत् चित्) की सिद्धि करते हैं। जिसका स्वाभाविक परिणाम होता है आनन्द।

और जघन्य कर्म किये गये जिनको देखकर बर्बरता भी लज्जित हो उठे। इन घृणित कर्मों को देखकर मानवता के प्रति सामान्य जनों की आस्था में भी छलकते हुए अनुभव को देकर वह महामानव काली तमसा के नव निशान्त की तरह अन्धकार को चीरते हुए प्रकाश की किरणें विकीर्ण कर रहा था। नोआखाली हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप बिहार में जो विद्रोह की आग भभक उठी, उसको लक्ष्य में रख कर कवि ने लिखा था।

'बोधितीर्थ, तू द्रोहानल में यह ईंधन मत डाल;

× × × ×

'तेरे बोधि-वचन अंकित हैं, जन-जन में अद्यापि अनल-अनल से, वैर-वैर से बुझता नहीं कदापि।'

'जय हिन्द' स्वाधीनता महोत्सव के उपलक्ष में प्रकाशित कवि की छोटी-सी रचना है। 'जय जय भारत वर्ष हमारे, जय जय हिन्द हमारे हिन्द' नामक सुन्दर गीत से इस पुस्तिका का प्रारम्भ होता है। कवि को यह देख प्रसन्नता होती है कि भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता के धन को सदुद्यम से प्राप्त किया है। इस युद्ध का सेनानी था वह महामानव जिसने विश्व की प्रयोगशाला में बैठकर सत्य के साथ आमरण प्रयोग किये थे; जिसका केवल लक्ष्य ही विशुद्ध नहीं था, साधन भी जिसके विशुद्ध थे। संसार में किस राष्ट्र को ऐसे सत्य-संघ पुरुष की प्रतिष्ठा मिली है! भारत दो खण्डों में विभक्त हो गया, उस सम्बन्ध में कवि आश्वासन के स्वर में कह रहा है—

चिन्तित न हो तू अरे ओ अभङ्ग।
खंडित कहीं से नहीं तेरा अङ्ग॥

तेरे शैल-वन जहाँ के तहाँ स्थित हैं, तेरी नव नीर वाली सरिताओं में वैसे ही सुमन खिल रहे हैं, एक ही प्रकाश सारे देश में छाया हुआ है। हिन्दू-वायु अथवा मुस्लिम-वायु—इस प्रकार वायु का जैसे द्विविध वर्गीकरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष के दो खण्ड नहीं हो सकते—ऐसी आदर्शात्मक भावना कवि ने प्रकट की है। उसकी अन्य रचनाओं 'बापू' और 'उन्मुक्त' में भी अहिंसा और सार्वदेशीयता का ही स्वर मुखरित हुआ है। वह अपने राष्ट्र और राष्ट्र पिता पर इसलिए गर्व करता है कि उनमें कहीं भी सीमा का संकोच नहीं है। भारत ने ही भुजा पसार कर घोषणा की थी कि विश्व भर का एक ही कुटुम्ब है—'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।' कवि के हाल ही में प्रकाशित 'नकुल' नामक प्रतीकात्मक

खण्ड काव्य में नकुल को सार्व भौमता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है।

कवि के ही शब्दों में—

सार्वभौम जो, इष्ट उसे क्यों न हो नकुलता,
सीमा से अवरुद्ध रहेगा अमल-अतुल क्या?

राष्ट्रीय कवियो में श्री माखनलालजी चतुर्वेदी का नाम अन्यतम है। 'एक भारतीय आत्मा' के नाम को वे सर्वथा सार्थक करते हैं। राष्ट्रीयता के स्वस्थ वातावरण मे ही वे सॉस लेते रहे हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' आपकी केवल सर्वप्रिय रचना ही नहीं है, उसी में आपकी कविता का मूलमंत्र भी छिपा हुआ है। बलिदान की भावना ही इनकी सर्वप्रिय भावना है। इनके 'मरण त्यौहार' की कल्पना तो बड़ी रोमान्चक है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य ही मरणमहोत्सव के भव्य चित्र देखे जाते हैं! देश और धर्म की रक्षा के लिए पुत्र का धारा-तीर्थ मे स्नान करना और सती का चितारोहण राजस्थान मे परम कर्तव्य समझा जाता था। 'भारतीय आत्मा' के लिए बलिशाला ही मधुशाला है। उदात्त आदर्शों की रक्षा के लिए जो कवि बलिदान की भावना को लेकर मृत्यु का जय जयकार कर रहा हो, जो केवल स्वप्न लोक में ही नहीं किन्तु वास्तविक जगत में भी राष्ट्रीय पथ का सच्चा पथिक रह चुका हो, और जेलो में ही जिसके रवि उगे और अस्त हुए हों, उस कवि के काव्य की ओजस्विता और मार्मिकता का तो भला कहना ही क्या? दिनकर ने इस कवि को शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारो से क्रान्तिकारी कहा है। कवि की बहुत सी पंक्तियाँ रह-रह कर याद आती हैं—

तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ खोदने चले, सहसदल की नव पंखड़ियाँ भूले॥

कवि ने अपने लिये सच ही कहा है—

सूली का पथ ही सीखा हूँ,
दुविधा सदा बचाता आया।
मै बलि-पथ का अंगारा हूँ,
जीवन-ज्वाल जगाता आया।

राष्ट्रीय कवियो में दिनकर को भी नहीं भुलाया जा सकता जो अपने आपको युग-धर्म की हुंकार बतलाते हुए सिन्धु का गर्जन तक सुनना नहीं चाहता। कैसी ओजस्वी ललकार है इन पंक्तियों में—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा।
स्वयं युग-धर्म की हुंकार हूँ मैं॥

× × × ×

'पुरोगा कवि कोई है यहाँ,
देश को दे ज्वाला के तीर ?'

इन पंक्तियों द्वारा प्रश्न उठाने वाला कवि मानो अपनी कृतियों द्वारा स्वयं ही उत्तर बन गया है। 'भारत की भूखी नंगी जनता चाहती थी कि उसके कवि केवल सातवें आसमान की ही बात न किया करें बल्कि कुछ नीचे उतर दुनिया की बात भी करें, उसके भावों की अभिव्यक्ति करें'। दिनकर उन दीन दुखियों का प्रतिनिधि कवि है। वह जानता है कि भारतीय जनता के दुःखों का एक बहुत बड़ा कारण उसकी गुलामी रही है, इसलिये वह अपनी कविताओं में ऐसे अतीत को भी याद करता है जिस समय देश स्वतंत्र था। 'मेरे नगपति मेरे विशाल' इस दृष्टि से एक बड़ी ओजस्वी रचना है। 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में कवि ने कहा है—

जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिरसिक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

उक्त पंक्तियों का ही मानो विशदीकरण करते हुए कवि ने कहा था कि 'मास्को का हम आदर करते हैं किन्तु हमारे रक्त का एक एक बिन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है। पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने ही देश का होता है।' प्रगतिशील कविताओं को लोकप्रिय बनाने में स्वयं दिनकर का बहुत कुछ हाथ रहा है किन्तु ऊपर की पंक्तियों में 'उसने उन प्रगतिवादी कवियों को आड़े हाथों लिया है जो केवल मास्को और वोल्गा की चर्चा करते हैं किन्तु सभी प्रगतिवादी कवियों के सम्बन्ध में कवि का वह आरोप लागू नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व देने वाले प्रगतिवादी कवि अविधार्यतः राष्ट्रीयता के विरोधी नहीं कहे जा सकते।'

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आने पर राष्ट्रीय आन्दोलनों की ओर उन्मुख हुए थे। 'तेरे बरद हस्त छाये हैं अब भी मेरे मस्तक पर' कह कर उन्होंने विद्यार्थी जी को स्मरण किया था। 'कुंकुम' नामक आपका कविता-संग्रह प्रकाशित होने से पहले ही आपने राष्ट्रीय कवियों में अपना नाम सुरक्षित कर लिया था। अपने उग्र विचारों के कारण आप कई बार जेल भी हो आये हैं। इनके विप्लव गायन 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' ने जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की

उतनी प्रसिद्ध इनकी और कोई कविता न हुई। बापू पर कवि ने जो अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, उसने भी अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। सन् १९२० के सत्याग्रह की पराजय पर कवि ने जो 'पराजय गीत' लिखा वह अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

आज खड्ग की धार कुंठिता,
है खाली तूणीर हुआ।
विजय पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।

किन्तु नवीन वास्तव में विद्रोह और विप्लव के कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हुए। हिन्दी कविता में क्रान्ति के अग्रदूत कहलाये। कवि केवल भारत में ही उथल-पुथल नहीं चाहता, वह विश्व भर में एक नई व्यवस्था देखना चाहता है। जिस दिन वह मनुष्य को लपक कर जूठे पत्ते चाटते हुए देखता है, उसके मन में इच्छा होती है कि आज मैं इस दुनिया भर को आग क्यों न लगा दूँ। इतना ही नहीं, वह यह भी सोचता है—

वह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ घोंटू स्वयं जगपति का।
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस विकृति का॥

भारत के दो भागों में विभक्त होने पर ही हिन्दी के अनलवर्षी कवि श्रीभरत व्यास ने विप्लव के स्वर में लिखा।

आसमान! तूने देखा दो टुकड़े होते पर न फटा तू।
अरे हिमालय! नाक कटी पर पाव इञ्च भी नहीं कटा तू॥
गंगे! तेरी इन लहरों में आज निगोड़ी आग न लागी।
काशी! तेरे इस शंकर की आज तीसरी आँख न जागी!!

उदयशंकर भट्ट की कविताओं में भी राष्ट्रीय भावनाओं की कमी नहीं है। सैनिक की मृत्यु-शय्या पर लिखी हुई इनकी रचना में स्वतन्त्रता के अनुराग की अच्छी व्यंजना हुई है—

गरजे बादल से आजादी,
बिजली में स्वर आजादी का।
× × ×
हम आजादी के दीवाने,
परतन्त्र रहेंगे कभी नहीं।

इनके तक्षशिला नामक काव्य में भारतीय सभ्यता के स्वर्णिम अतीत की सुन्दर झलक है। सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर इन्होंने 'बंगाल

के अकाल' और 'रिपब्जी' पर भी रचनाएँ की हैं। कवि का दृष्टिकोण प्रगतिवादी भावना को लिए हुए है। राष्ट्रीय कवि की दृष्टि से श्री भट्टजी इतने प्रसिद्ध नहीं हुए जितने 'भारतीय आत्मा' और दिनकर आदि। गांधीवादी राष्ट्रीयता को लेकर कविता लिखने वालों में श्री सोहनलालजी द्विवेदी को नहीं भुलाया जा सकता किन्तु उनकी कविता में विचार पक्ष इतना प्रबल नहीं है जितना भावना और पूजा के आधार पर चलने वाला अपने उपास्य देव का प्रशस्ति पक्ष प्रबल है। शायद इसलिए किसी ने आपको 'गांधीवाद का चरण' तक कह दिया है। हिन्दी की कवियित्रियों में स्वर्गीय सुभद्रा कुमारी चौहान ने राष्ट्रीय कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। उन्होंने खड़ीबोली को जो वीरगीत दिया, उसके कारण ही वे झाँसीवाली रानी की लेखिका के रूप में प्रसिद्ध हो गईं। दो बार राष्ट्रीय झंडा सत्याग्रह में उन्हें गिरफ्तार होना पड़ा था। निरालाजी के 'जागो फिर एक बार' तथा जयसिंह के प्रति शिवाजी के पत्र में हिन्दू राष्ट्रीयता अथवा जातीयता की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। श्रीरामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्य मिलन, पथिक और स्वप्न में भी देश-हित और आत्मोत्सर्ग की भावना का अच्छा चित्रण है। श्री सुधीन्द्रजी की भी 'जलियाँवाला बाग' और 'फहर फहर ओ तरल तिरंगे' जैसी रचनाएँ काफी प्रसिद्ध हुईं। कानपुर के श्री श्यामलालजी पार्षद तो 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' यह झंडा-गीत लिख कर ही अमर हो गये। स्वर्गीय प्रसाद जी के नाटकों में अनेक ऐसे गीत हैं जिनका राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। 'अरुण वह मधुमय देश हमारा' और अलका के उस अभियान-गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' को कौन भूल सकता है? श्रीसुमित्रानन्दन पंत की अभिनव कृति 'स्वर्णकिरण' में भी स्थान स्थान पर स्वस्थ्य राष्ट्रीय भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'ज्योति भूमि जय भारत देश' में भारत के प्रति कवि की श्रद्धा उमड़ पड़ती है। पंत जी की राष्ट्रीय भावना में अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वर है। पं० नेहरूजी के प्रति लिखी हुई कविता में उन्होंने यही अभिलाषा प्रकट की है—

'हो भारत-स्वातन्त्र्य विश्व-हित स्वर्ण जागरण,
रक्त-व्यथित भू पिये शांति-सुख का संजीवन।'

'वंदे मातरम्' में भी वे कहते हैं—

आओ मुक्ति कंठ से सब जन,
भूमंगल का गावें गायन।

आधुनिक युग में जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये उनमें भी स्थान-स्थान पर

राष्ट्रीय भावनाओ की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। श्रीठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्र-दूत' का 'महामानव' गांधीजी के माध्यम द्वारा दक्षिण अफ्रीका से लेकर नोआखाली तक का काव्यात्मक राष्ट्रीय इतिहास प्रस्तुत करता है। 'आर्यावर्त' में आर्य-भूमि की वंदना, आर्य जाति की महत्ता और आर्य-आचरण के प्रति निष्ठा दिखलाई पड़ती है। सच्चे राष्ट्रीय आदर्श का चित्रण 'साकेत-संत' में भी हुआ है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निम्नलिखित अनेक रूपों में वर्तमान हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना अभिव्यक्त हुई है। (१) जन्म भूमि के प्रति ममता (२) देश का मस्तक ऊँचा करने वाले महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि (३) देश-प्रेम और आत्मोत्सर्ग (४) स्वर्णिम अतीत का स्मरण (५) राष्ट्रध्वज की वंदना (६) वर्तमान अवस्था पर क्षोभ (७) बंगाल का अकाल (८) देश के दुखी किसानो और मजदूरो का चित्रण (९) साम्राज्यवाद का विरोध और समाजवाद का जय-जयकार (१०) जातीयता के उद्‌गार (११) राष्ट्रीय बाधाओं को चूर्ण करने की प्रेरणा आदि।

वर्षों की काल-रात्रि के बाद देश में स्वातन्त्र्य प्रभात का नव-जागरण हुआ था किन्तु उसके बाद भी उन्मत्त भावनाओं का जो अनियंत्रित-तांडव-नृत्य देखा गया, उसके कारण मानवता चीत्कार कर उठी—वह अपने उस वसुन्धरा के लाल को खो बैठी जो मानवता का उपासक था, जो केवल भारत का ही हितैषी नही था वरन् अहिंसा और सत्य के द्वारा जो विश्व-हित की निरंतर कामना किया करता था। ऐसी विषम परिस्थिति में राष्ट्रीय कवियों का दायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के जीवन में भावावेश एक बड़ी भारी प्रेरक शक्ति है किन्तु वह भावावेश आज कर्तव्य का भावावेश होना चाहिए, भावना का उन्माद नही। आज कोई भी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से अपने को पृथक् नहीं रख सकता इसलिए वाँछनीय यह है कि हमारे कविगण भी परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन करें, केवल राजनीतिक नारे उठाने वाली कविताओं से बाज आयें और जीवन में साधना के महत्व को समझें। राष्ट्रचेता कवि के काव्यो से देशवासियों को अवश्य ही प्रेरणा मिलती है, किन्तु आज के कवि को यह भी देखना होगा कि किस प्रकार की प्रेरणा वह अपने काव्यो द्वारा दे रहा है। केवल विद्रोह की भावनाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना करने से आज काम नहीं चलेगा। साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर हमें राष्ट्रीयता की भावना को अपनाना होगा। उत्तेजना में आकर राजनीतिक वाद-विवाद करने

का अवसर आज नहीं है; छिछले निरे भावुकतामय उद्गार आज नहीं चल सकेंगे। यह हर्ष की बात है कि पन्त जैसे चिन्तनशील कवि स्वस्थ विचार-धारा जनता के सामने रख रहे हैं, जिसमें सांस्कृतिक जागरण का स्वर सुनाई पड़ता है। सियारामशरणजी की मानवतामूलक राष्ट्रीयता का भी कम महत्व नहीं है। हिन्दी के कवियों में कभी कभी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध के स्वर भी सुनाई दे जाते हैं किन्तु सच्ची राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कभी बाधा नहीं डाल सकेगी। यह विश्व का दुर्भाग्य है कि साम्रा-ज्यवादी भावना से प्रेरित राष्ट्र सच्ची राष्ट्रीयता को नहीं अपना रहे हैं। एक पक्ष के विचारानुसार जहाँ तक राजनीतिक भावनाओं की व्यापकता का सवाल है, राष्ट्रीयता ने मनुष्य को एक ऊँचे दर्जे की चेतना देकर अच्छा ही काम किया है और अब भी कर सकती है किन्तु मानवता और राष्ट्रीयता में झगड़ा ही रहा है और यह झगड़ा तभी दूर हो सकेगा जब मानवी राष्ट्रीयता का विकास समुचित आर्थिक संगठन को लेकर होगा। प्रगतिवादी राष्ट्रीय कवियों का समुदाय इसी राष्ट्रीय भावना को जगाने का काम कर रहा है। आज के कवि का काम यह है कि वह ऐसी भावना जगाये जिससे हम एक दूसरे को समझें और साम्प्रदायिक दलदल से ऊपर उठें। विशुद्ध राष्ट्रीयता के आलोक की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। क्या हिन्दी के राष्ट्रीय कवि इस ओर ध्यान देंगे।*

---

* आल इंडिया रेडियो दिल्ली के सौजन्य से।

डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, डी० लिट०

हिन्दी कविता में शृङ्गार रस

भारत आत्मा की शोध में प्रवृत्त हुआ तो उसने काव्य की आत्मा को भी पहचान लिया। रस ही काव्य की आत्मा है। रस की संस्थिति से ही काव्य यथार्थ में सार्थक होता है। देव ने कहा है—

काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्या सार।

संसार के समस्त साहित्य में काव्य की इससे ऊँची परिभाषा नहीं हो सकी। रस नौ माने गये हैं। उन रसों में शृङ्गार रस सबसे प्रथम और सबसे प्रमुख रस है। भारतीय आचार्यों ने गम्भीर विचार के उपरान्त यह माना है कि शृङ्गार रस रसराज है। रसो का राजा है। शास्त्रीय दृष्टि से तो यही वह रस है जिसमें सभी संचारी आ सकते हैं। इन तेतीस संचारियो में से शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसो में कुछ गिनती के ही संचारी आ सकते हैं। देव ने तो शृङ्गार रस को समस्त रसो का मूल माना है—

नव रस मुख्य शृङ्गार मँह,
उपजत विनसत सकल रस।
ज्यों सूक्ष्म थूल कारन प्रगट,
होत महाकारन विवस॥

शृङ्गार रस मे रचना की प्रेरणा हिन्दी को उसके पूर्व की संस्कृति, प्राकृत और अपभ्रंश की दीर्घ परम्परा से थाती के रूप में मिली है। उसको हिन्दी ने विशेष मनोयोग, मेधा और मौलिक उद्योग से पाला पोसा है, फलतः हिन्दी में शृङ्गार रस का एक प्रमुख स्थान हो गया है। शृङ्गार रस की आन्तरिक सरसता ने हिन्दी काव्य के प्रत्येक अक्षर को सरस, कोमल, मृदु मधुर और सजीव कर दिया है।

शृङ्गार रस का सम्बन्ध सृष्टि के दो मूल महान् जीवन तत्वो से है। एक है सौन्दर्य दूसरा है प्रेम। सौन्दर्य के सम्बन्ध में अङ्गरेजी के महाकवि कीट्स की ये अमर पंक्तियाँ यथार्थ और सत्य है कि सौन्दर्य की एक-एक वस्तु अनंत आनन्दप्रद है। सौंदर्य का सम्बन्ध रूप विधान से है। यह दृश्य है। रूप दर्शन से जब सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो भाव जाग्रत हो जाते हैं। ये भाव

प्रेम में परिणत हो जाते हैं ! सौन्दर्य की अनुभूति से प्रेम जागृत होता है। प्रेम सौन्दर्य का ही प्रतिरूप है। भारतीय काव्य ने इन दोनों के आकर्षण संभोग की क्रिया प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिये एक शब्द चुन लिया है' ' वह शब्द है रति। रति श्रृङ्गार रस का स्थायीभाव है। रति की स्थिति के आलम्बन विभाव में नायक और नायिका अवलम्ब और आश्रय माने गये हैं। इस रस में से ये आलम्बन और आश्रय परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। अवलम्ब सौन्दर्य का पात्र है तो आश्रय प्रेम का। सौन्दर्य भाव वस्तु है, प्रेम भाव है।

हिन्दी में अवलम्ब और आश्रय की दृष्टि से श्रृङ्गार रस सम्बन्धी रचनाओं का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होगा कि सौन्दर्य पक्ष अथवा अवलम्ब पक्ष में बाह्य रूप वर्णन और नख-शिख का विकास हुआ।

रूप विधान में आकृति, भूषा, अलंकार; चेष्टाओं, हाव, भाव तथा मुद्राओं और अंग प्रत्यगों का वर्णन हुआ है।

आकृति वर्णन में कवियों ने यदि भक्त हुए तो नख से शिख तक अन्यथा शिख से नख तक का रूपांकन किया है। शिख से नख तक शरीर में मिलने वाले प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की शोभा और उसका सौन्दर्य अलङ्कारों के द्वारा चित्रित करने का उद्योग किया गया है। ऐसे रूप विधान के अलङ्कार के लिए उपादान प्रकृति से लिये गये हैं। देखिये सूरदास राधा का नख शिख किस अलङ्कार योजना के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

राजति राधे अलक नली री
मुकुता माँग तिलक पन्नगि नासि,
सुत समेत मधु लेन चली री
कुंकुम आड श्रवन जल श्रम मिलि,
मधु पीवत छवि छौंट अली री
चारु उरोज उपर यों राजत,
अरुझे अलि कुल कमल कली री
रोमावलि त्रिबली पुर परसत,
बंस बढ़ै नट काम बली री
प्रीत सुहाग भुजा सिर मण्डन,
जघन सघन विपरीत कदली री
जावक चरन, पञ्च सर नायक,
समर जीति लै सरन चली री

सूरदास प्रभु को लिख दीन्हो,
नख सिख राधे सुतनि फली री ॥

मणिधारी सर्प, मधु पायी भ्रमर, अलिकुल संवलित कमल कली, कदली आदि प्रकृति के उपमान हैं, जिन्हें यथा क्रम व्यवस्थित करके कवि ने राधा के रूप को हृदयंगम कराया है। पद्मावत प्रेमगाथा प्रबन्ध काव्य के रचयिता जायसी ने नख शिख का वर्णन खूब डट कर किया है। एक अङ्ग के लिये वे जितनी भी सम्भव उक्तियाँ जुटा सके हैं सभी का उल्लेख कर देने की चेष्टा उनमें मिलती है। माँग के इस वर्णन को लीजिए—

बरनी माँग सीस उपराहीं
सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं
बिन सेंदुर अस जानहु दीआ
उजियर पन्थ रैनि मँह कीआ
कञ्चन रेख कसौटी कसी
जनु घन मँह दामिनि परगासी
सुरुज किरिन जनु गगन बिसेखी
जमुना माँझ सुरसुती देखी
खाँड़े धार रुहिर जन भरा
करवत लेह बेनी पर धरा ॥

यह अंग प्रत्यंग वर्णन करने में, आनन्द पाने की प्रवृत्ति रीतिकाल में जब स्फुटित रूप से विकसित हुई तो नेत्र, अलक, तिल आदि पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। एक एक अङ्ग के सम्बन्ध में अद्भुत से अद्भुत उक्तियाँ दूर की सूझ, सुकुमार कल्पना इनमें क्रीड़ायें करती हैं। मुबारक के अलक पर दोहा देखिये—

अलक मुबारक तिय बदन, उलटि परीयो साफ।
खुश नसीब मंशी मदन, लिख्यो काँच पर काफ ॥

रूप विधान की दृष्टि से सूर ने कृष्ण और राधिका के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं वे विशद हैं और अद्वितीय हैं। उनमें रूप योजना के साथ भूषा और अलङ्कारों की भी संयोजना है। समस्त वर्णन कृष्ण अथवा राधा का जीवन चित्र प्रस्तुत कर देता है। जायसी की रूप योजना में हमें उक्ति और सूझ का प्राधान्य मिलता है, उसमें रूप सौन्दर्य तो पीछे पड़ जाता है जगत् का वैविध्य और विराट् उक्ति और उपमानों के सहारे उतरने लगता है। तुलसी भी रूप संविधान में पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने ऐसे प्रत्येक वर्णन को अपने प्रबन्ध

कौशल के अनुकूल रखते हुए भाव संपृक्त रखने में सफलता प्राप्त की है। 'सीय मुख समता पाव किम चन्द्र बापुरो रङ्क' में सीता की मुखाकृति के सौन्दर्याङ्कन का प्रयास है। तुलसी ने अपने समस्त रूप वर्णन को, नख शिख वर्णन को, विशद तो किया है साथ ही कथा की आवश्यकता को सीमा के भीतर ही रखा है। रीतिकाल से पूर्व के कवि के समक्ष इस रूपधारी व्यक्ति का नाम रूपात्मक व्यक्तित्व था, वह राम, कृष्ण, सीता, राधा में से था। रत्नसेन पद्मावती में से कोई था। उन जैसा ही कोई नामधारी हो सकता था रीतिकाल में यश नामरूप लुप्त हो गया, या नाम मात्र को रह गया। अब तो नायक और नायिका का साधारण भाव ही सामने था। उसके सौन्दर्याङ्कन में कवि को अब किसी प्रकार के संकोच की आवश्यकता नहीं रह गई थी। देखिये देव कैसे विस्मयकारी सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं।

आई हुती अन्हवावन नाइनि,
सौंधे लिये बहु सूधे सुभाइन।
कंचुकी छोरि उतै उबटैबे को,
ईंगुर से अङ्ग की सुखदाइन।
देव सरूप की रासि निहारत,
पांय ते सीस लौं सीस ते पांइन।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी,
हंसे कर ठोडी दिये ठकुराइन॥

यह तो प्राचीन कवियों के रूप वर्णन की साधारण शैली रही। आधुनिक हिन्दी कवियों ने शुद्ध सौन्दर्य वादिनी दृष्टि के साथ रूप का वांछनीय वर्णन अपने काव्यों में प्रस्तुत किया है। जयशङ्करप्रसाद जी की कामायनी में श्रद्धा का यह सौन्दर्य दर्शनीय है।

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

प्राचीन कवि उपमानों को गूँथ कर रूप में विलक्षणता भर देते थे। आधुनिक कवि उपमानों को विलक्षणता के साथ रूप सौन्दर्य के चित्र को रंगीन तूलिका से यथावत् चित्रित करके उसमें काव्य का स्पन्दन भी उत्पन्न कर देता है।

मुद्रायें और हाव भाव इस रूप सौन्दर्य की विशेष झाँकी कराने के बड़े

प्रबल साधन हैं। हिन्दी के कवियो ने इसमें अद्‌भुत कौशल प्राप्त किया है। राधा ने कृष्ण की बाँसुरी चुरा ली है इसी बहाने कृष्ण से वह कुछ बातें करने का आनन्द प्राप्त करना चाहती है....इस सम्बन्ध में उसकी चेष्टाओं का बिहारी ने कैसा चलचित्र दिया है।

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
भौंह हँसे, सौहनि करै, देन कहै नटि जाय॥

यह तो कृष्ण को छेड़ने के लिए चेष्टायें की गई हैं। कवि पद्माकर ने एकान्त में एक नायिका की एक मुद्रा का चित्र दिया है। वह इसलिये देखने योग्य है कि कवि ने कैसे प्रत्येक अंगभंगी का साक्षात् चित्र प्रस्तुत कर दिया है—

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगन्धनि झकोरै हैं।
कहै पद्माकर इकन्त चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन ते फन्द चन्द छोरे हैं।
घाँघरे की घूमनि सु ऊरुज दुबीचै दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै हैं।
दँतनि अधर दाबि, दूनरि भई सी चालि,
चीवर पचौवर कै चूनरि निचौरै है॥

आश्रय पक्ष में हिन्दी कवियो ने नायक और नायिकाओं के विविध स्वभाव और गुणों के आधार पर उनका वर्गीकरण करके उनका चित्र दिया है। इसका यथार्थ परिपाक आश्रय में ही प्रतीत होता है। अतः संचारी और अनुभावों का सञ्चार भी आश्रय में परिस्फुट मिलता है।

नायक नायिकाओं के निरूपण में हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने विशेष प्रवृत्ति दिखाई है। रीतिकाल से पूर्व के कवियो में भी नायिका-निरूपण का अभाव नहीं। प्रबन्ध काव्य लेखक को तो महाकाव्य के चरित्र की दृष्टि से नायिका का वर्णन किसी विशेष दृष्टि से करना पड़ा है। पद्मावती पद्मिनी नायिका हैं। नागमती और पद्मावती दोनो ही स्वकीया हैं। सूर के काव्य में विविध नायिकाये मिल जाती हैं। परकीया नायिका का भी अभाव नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय के राधाकृष्ण उपासकों ने वस्तुतः शृंगार रस का धार्मिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करके उसे धर्मतः शास्त्रीय दृष्टि से बहुत ऊँचे धरातल पर दिया है। नायिका और नायक का वर्गीकरण वस्तुतः प्रेम के विविध रंग और गहराई का वर्गीकरण है। यही सफलता का सिद्धान्त

सिद्ध होता है। नायक अथवा नायिका अपने स्वभाव के अनुसार प्रेम का ग्रहण करते हैं। तभी यहीं आकर यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ कि स्वकीया का प्रेम या परकीया का प्रेम।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रेम की मान्यता का मूल्याङ्कन ही नायक नायिकाओं के विविध विभेदों का कारण बना है। यह प्रवृत्ति इतनी सूक्ष्मता की ओर बढ़ी है कि हिन्दी में देव ने नायिकाओं की संख्या ३८४ तक पहुँचा दी है। ये भेद जाति, कर्म, वय, अवस्था, स्वभाव, गुण यहाँ तक कि स्थल भेद पर भी निर्भर करते हैं। इन सब पर यहाँ सरसरी दृष्टि से भी विचार नहीं किया जा सकता। शृंगार रस के आश्रय विधान में निश्चय ही इसका महत्वपूर्ण स्थान है और कुछ महाकवियों के नायिका वर्णन तो साहित्य की अमूल्य निधि हैं। हरिश्चन्द्र की एक स्वकीया मुग्धा नायिका के इस दर्शन का आनन्द लीजिये—

सिसुताई अजौं न गई तनतैं,
तऊ जोवन जोति बटोरै लगी।
सुनिकै चरचा हरिचन्द की कान
कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जिठानिन सों पिअते,
दुइ घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही अलही सब आगन तें,
दिन द्वै ते पिऊस निचोरै लगी॥

इस प्रकार हिन्दी कवि सौन्दर्य और प्रेम का अवलम्ब और आश्रय के प्रतिफलन का आलम्बन विभाव का विकास करता है। पर इससे तो सृष्टि का बीजारोपण होता है। इसके परिपाक के लिए उसे उद्दीपन विभाग को और परिपुष्ट करना होता है। शृंगार रस के उद्दीपन में हिन्दी कवियों ने प्रकृति को उद्दीपक स्थितियों के चित्र दिये हैं। ये उद्दीपन संभोग शृंगार में सुखदायक होते हैं और आनन्द वृद्धि करते हैं। वही उद्दीपन वियोग शृंगार में दुखदायक होते हैं। दाहक होते हैं। सूरदास ने एक पद में उद्दीपनों को इस विरोधी प्रवृत्ति को स्पष्ट कर दिया है। गोपियाँ ऊधौ से कह रही हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुञ्जें!
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भई विषम ज्वाल की पुञ्जें।

वृथा बहति जमुना, खग बोलत,
वृथा कमल फूले। अलि गुञ्जें।
पवन, पानि, घनसार सजीवनि,
दधिसुत किरन भानु भई भुञ्जें।
ए ऊधौ, कहियो माधव सौं,
विरह करद कर मारत लुञ्जें।
सूरदास प्रभु को मग जोवत,
अँखियाँ भई वरन ज्यों गुञ्जें।

हिन्दी कवियों ने वियोग शृंगार ही नहीं लिखा, संयोग शृंग... ..
उनका प्रमुख विषय रहा है। रसखान की एक रचना देखिए—

छूटो गृह काज लोक लाज मनमोहनि कौं,
मौहन को छूट गयौ मुरली बजायबौ।
अब 'रसखानि' दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चन्द्र हाथन दुरायबौ॥
कालि ही कालिन्दी तीर चितये अचानक ही,
दोहुनि को ओर दोऊ मुरि मुसिकायबौ।
दोऊ परै पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूल गई गैयाँ उन्हें गागरि उठायबौ॥

उद्दीपन किसी भी रस के परिपाक की पृष्ठभूमि में रहते हैं। वे रस के अंकुर को अथवा चिनगारी को और अधिक उत्तेजित करते हैं, और सौन्दर्य विधान के परिपोषण में एक तत्त्व का भी काम करते हैं। उद्दीपन में चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका, बसन्त ऋतु, कोकिल और उसकी कूक, भ्रमर की गुंजार, नदी का तट, सरोवर, चातक, शुक, सारिका, कमल, वन, कुंज, वृक्ष समूह, शीतल उपचार, ऐश्वर्य और विलास की सामग्रियाँ आदि का विशेष वर्णन रहता है। ऋतु वर्णन भी उद्दीपन का ही एक अंग है। यही ऋतु वर्णन बारामासा का रूप ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार कवियों ने पुरुष और स्त्री के साथ प्रकृति का गठजोड़ा करके शृंगार रस को मानव के समग्र जीवन की एक अभिव्यक्ति बना दिया है। सौन्दर्य विधान की दृष्टि से विभाव के दोनों रूप आलम्बन और उद्दीपन महत्व रखते हैं। संचारी भाव मनः स्थिति और अन्तर्दशा की मुद्रायें हैं। सात्विक भाव भी ऐसी ही सहज दशाएँ हैं। शृंगार रस के सौन्दर्य विकास में ये आन्तरिक सहयोग प्रदान करते हैं।

हूँ। मैं मार्क्सीय तर्कपद्धति को मानता हूँ, इसी का अर्थ यह होता है कि मैं शब्द प्रामाण्यवादी नहीं हूँ। मार्क्स ने भौतिकवाद की जो वैज्ञानिक विवेचना की, इसके कारण यांत्रिक जड़वाद, आदर्शवाद और केवल संग्रहोद्धारवाद (एक्लेक्टिसिज्म) से भिन्न उसकी स्थापनाएँ कैसे थीं, यह स्पष्ट होता है। यही बात सबसे पहले जानने की है, क्योंकि अभी हिन्दी में मार्क्सवाद को गलती से इन्हीं तीन चीजों का पर्यायवाची मान लिया जाता है जिनके कि विरोध में वह खड़ा होता है।

मार्क्स की विचार धारा को—यद्यपि आदर्शवादी सिद्धान्तों (आइडियोलौजी) की निष्क्रियता और हर चीज को काट कर हवा में ले जाने का वह सबसे बड़ा विरोधी था—समझने के लिये आवश्यक है कि उसकी विज्ञान संसिद्धि (थ्यौरी ऑफ नॉलेज) को समझा जाये। मार्क्स हेगेल की शाश्वत प्रज्ञा (लौगौस) के विरोध में, प्रत्येक भौतिक घटना को आदर्शवादी बना देने के विरोध में, हेगेल की ही तर्कपद्धति को काम में लाता है। गतिमानता हमारी चिन्तन में अवश्य है, विरोध से विकास भी अवश्य है परन्तु वह उस अतीन्द्रिय शून्य प्रायः परमब्रह्म की ओर नहीं है। वैसे हेगेल की इतिहास-दर्शन की व्याख्या हमें एक अद्‌भुत सामाजिक स्थितिवाद में ला पटकती है। हेगेल के अनुसार कोई भी व्यक्ति इतिहास नये सिरे से बनाता नहीं। वह अपने समय और संस्कृति से सीमित है। संस्कृति केवल एक दिशा में बढ़ती है, महान् विभूतियों के विचारों में और उनकी कृति के वास्तव परिणामों में कोई अन्तर नहीं। युग-निर्माण क्रिया या विचार तभी संभव है जब युग उसके लिए संनद्ध हो। परिपक्व हो। इस प्रकार महान् विभूति किन्हीं ऐतिहासिक, सामाजिक शक्तियों की प्रतिनिधि अभिव्यंजना, एक प्रतीक या उपकरण मात्र है। उसकी जीवनी पढ़कर उसके वैयक्तिक गुणों को जानने की आवश्यकता नहीं, उसकी महत्ता का कारण युग है। यह इतिहास का जड़ विश्लेषण है, जिसे मार्क्स नहीं मानता। वह जब कहता है कि 'मान का अस्तित्व (सीन) उसकी चेतना से निर्णीत नहीं होता बल्कि उसकी चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व (गेसेलशाफ्टलिकेस सीन) से निर्णीत होती है।' तब वह न तो केवल आदर्शवादियों की भाँति सब वस्तुजात, क्रियाचेतना आदि एक मानसिक प्रक्षेपण-मात्र मानता है। मार्क्स के निकट कोई माया का अभ्यास नहीं है, कोई उर्णनाथ अपने आप में से कात कात कर सृष्टि का यह सुन्दर जाल रच रहा है। मार्क्स के ऊपर के वाक्यों में 'सामाजिकता' शब्द के प्रयोग का मानवी चेतना की स्थिति गति की परम्परावलम्बिता की

ओर निर्देश किया गयाहै । मार्क्स ने अपने 'फायरबाख पर प्रबंध' तथा 'राजनैतिक अर्थशास्त्र की भूमिका और आलोचना' ग्रन्थो में यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वह हॉलबॅक आदि के यान्त्रिक जड़वाद को कैसे एकांगी मानता है और इसी कारण केवल आदर्शवाद भी मानवी चेतना के उद्‌गम और विकास की समस्या को हल करने में कैसे अपर्याप्त सिद्ध होता है। मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि किसी भी समाज में आर्थिक सामाजिक व्यवस्था में जिस गति से परिवर्तन होता है, उसी गति या लय से समाज के धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, वैधानिक और सौन्दर्य विषयक विचार नहीं बदला करते।

दुर्भाग्य से हमारे यहाँ भौतिकवाद की परम्परा बहुत जकड़बन्द है। या तो चार्वाकवादी यान्त्रिक जड़वाद है या फिर सौंतांत्रिको जोगाचारो का शून्यवाद की ओर ले जाने वाला आदर्शवादी भौतिकवाद । अतः जब जब मार्क्स के विरोध-विकासवादी भौतिकवाद की चर्चा की जाती है, झट से हमारे अर्द्ध-बुद्धिवादी अर्द्ध-विचारक कूद कर उसे 'रोटी-रति-वाद' की खाई में पटक, मार्क्स के जीवन, गतिमान दर्शन को जबर्दस्ती स्थितिस्थापक्तवादी और नैश्रित्यमूलक बना डालते हैं। मार्क्स की तर्कपद्धति और चिन्ताधारा, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या विरोधाविकासवाद की विशेषता ही यही है कि वह (१) बुद्धिवादी है—आदर्शवादियो के उस रहस्यवादी पुट के लिए उसमें स्थान नहीं है, जैसे सेख के अन्त में योरप में प्रचलित वर्तमान 'अस्तित्ववादियों' ने दी है (२) सर्वांगीण, सर्वकंष है—उसमें एकांगिता को गुन्जायश नहीं, जैसे कि विस्तृत ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्स के प्रभाव से लक्षित होता है। इसी का अर्थ यह कि वह केवल संग्रह करके उद्धार करने की (एक्लेक्टिक) प्रवृत्ति से भी भिन्न है। (३) वह गति और परिवर्तन में विश्वास करता है—अर्थात् वह स्थितिवाद या किसी भी प्रकार के 'कुटस्थमूअचलमध्रुवम्' में आस्था नही रखता। उन्नीसवी सदी के प्रगतिशील उदारतावाद से भी वह भिन्न है, क्योंकि वह उससे गहरा है। मार्क्स की तर्क पद्धति में कठमुल्लापन या सनातनत्व को स्थान नहीं। (४) वह मूलतः कर्मनिष्ट, क्रियावान् दर्शन है। वह केवल जगत् की टीका नहीं करता, वह जगत को बदलना चाहता है। प्रकृति और उससे उत्पन्न मानव जन के परस्पर संघात और परस्पर-विकास का परिणाम है नवीनक्रिया, नवीन समाज व्यवस्था, नवीन मानवी चेतना। अतः मार्क्स के निकट कोई तर्क-बिन्दु ऐसा नहीं जो निष्क्रियता या पलायनवाद में अपना समाधान खोजे। (५) वह आशावादी दर्शन हैं। वह श्रमजीवी जनसाधारण का दर्शन है, उसमें वर्ग-विशेष के पूर्वाग्रह और संकोच नही है।

अतः वह आने वाले युग की एक महत्वपूर्ण चिंता-धारा है।

जो दो आक्षेप मार्क्सवादी चिंताधारा पर लगाए जाते हैं वे यों आपस में कट जाते हैं। एक तो दल उन लोगों का है जो मार्क्ससाद को एकदम शांकरमत की भांति अपरिवर्तनीय और नैश्चित्यमूलक बताते हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं जो मार्क्सवाद के विभिन्न अर्थों (विशेषतः राजनीति में उसके निष्कर्षों की स्थापना) को देख कर घबड़ा उठते हैं कि यह तो कोई दर्शन ही नहीं; केवल अस्पष्टसूत्र संग्रह मात्र है। उत्तर में निवेदन है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक विचार धारा है और वह सब प्रकार के स्थितिवाद के विरोध में उत्पन्न हुई है।

कला के क्षेत्र में यांत्रिक भौतिकवाद और आदर्शवाद अन्ततः बहुत निकट आ जाते हैं। 'जो मनोविज्ञान को यांत्रिक भौतिकवादी की भांति समझते हैं। वे यदि कविता को परखें तो उसे भी एक तरह का वर्ताव मान लेंगे, जो आदर्शवादी हैं वे सीधे सत्यं, शिवम्, सुन्दरं की दुहाई देकर समाधान पालेंगे, कुछ दोनों को मिलाकर मानवी शरीर जिन तत्वों से निर्मित्त है, उसी में निहित्त सौन्दर्य-भावना का समाधान कविता करती है, कहकर चुप हो जायेंगे। जो आलोचक कला के क्षेत्र में 'शुद्ध' सौन्दर्यवादी अवधान को ही प्रधानता देते हैं उनमें भी अन्ततः यही मिथ्या तर्क पहले रहता है। यान्त्रिक जड़वादी कला वस्तु की 'स्व' से भिन्न सत्ता मानकर विषय और कलाकार को भुला देते हैं। यों वे केवल टेकनीक की कला की रूपात्मक चर्चा में ही खो जाते हैं। उनके लेखे कलाकार को कला-हेतु को अलग रखकर, निरी रस निष्पत्ति की चर्चा पर्याप्त होती है, जो कि अंततः उन्हें उसी चक्कर में डाल देता है कि वे इन भाव अनुभाव, आत्म-निष्ठा नियमों के फेर में पड़ जाते हैं।

'कला के क्षेत्र में जो आदर्शवादी हैं वे कला की क्रिया को केवल आत्म-निष्ठा बना कर, कलाकार या रसज्ञ के मन की 'भावना' मात्र बनाकर, पूरी कला विवेचना कर डालते हैं। उनके मत से सौन्दर्य भावना अपने में अन्तिम और प्रश्नातीत है, उन्हीं के अन्दर से जागती है। और इसलिए कला के सब मान वैयक्तिक और 'स्व' निष्ठ हैं। इस प्रकार आदर्शवादी और कुछ नहीं है एक प्रकार के स्वप्निल भौतिकवाद में खो जाते हैं, जैसे कि ऑग्डेन और रिचर्ड्स। परिणाम यह होता है कि सौन्दर्य-संवेदना केवल

स्नायविक उत्तेजना और 'कौनेस्थेशिया' में सीमित हो जाती है। जैसे यांत्रिक भौतिकवाद जाकर भाव-अनुभावों में खो गया, यह विज्ञानवाद या आदर्शवाद शरीर-शास्त्र में समाप्त हो जाता है।' (काडवेल: आभास और वास्तव, भूमिका से।)

श्री शिवनाथ एम० ए०

साहित्यकार और समालोचक

साहित्यकार समालोचक होता है और समालोचक साहित्यकार। साहित्यकार में समीक्षा की प्रवृत्ति होती है और वह अपनी रचनाओं में उसका उपयोग करता है। समालोचक में भी साहित्यकार की प्रवृत्ति होती है और वह उसका उपयोग साहित्यकार की समीक्षा में करता है। स्मरण इसे रखना है कि साहित्यकार में रचना शक्ति का प्राधान्य होता है और समालोचक में समीक्षा-शक्ति का प्राधान्य। कहना यह है कि समीक्षक समीक्षक है ही साहित्यकार भी समीक्षक होता है; परन्तु दोनों का क्षेत्र भिन्न है; साथ ही समीक्षा का कार्य भी। साहित्यकार पहले अपनी समीक्षा वृत्ति जागरित कर उसका उपयोग करने के पश्चात् तब रचना प्रस्तुत करता है। उसके लिए पहले समीक्षा की आवश्यकता है तब रचना की। तात्पर्य यह है कि साहित्यकार अपने हृदय में बैठकर, उनका सूक्ष्म निरीक्षण कर अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को जब साहित्य की काया में प्रतिष्ठित करता है तब वे ऐसी नहीं होतीं जो दूसरे से उधार मांगली गई हों अथवा कहीं से उठा लाकर रखदी गई हों। साहित्यकार दूसरे के बूते नहीं चलता। जो साहित्यकार ऐसा करता है वह नकलची होता है। साहित्य में उसकी कोई सत्ता नहीं। आज है कल नहीं रहेगा। निष्कर्ष यह कि जगत् और जीवन से साहित्यकार द्वारा गृहीत अनुभूतियाँ और भावनाएँ समीक्षण की प्रक्रिया के पश्चात् ही साहित्य का रूप धारण करती हैं। जगत् और जीवन के कोने-कोने से वस्तु व्यापार साहित्य की भाषा में आकर श्रोता, पाठक या दर्शक के हृदय को प्रभावित कर अनन्दानुभूति की सृष्टि करेंगे, साहित्यकार की यह सजगता उसकी समीक्षण वृत्ति का ही परिचय देती है। साहित्य में जगत् और जीवन के मर्मस्पर्शी वस्तु व्यापार ही आनन्दानुभूति की सर्जना करने में समर्थ है, अतः उन्हीं की प्रतिष्ठा साहित्य में होनी चाहिए, साहित्यकार इसे जानता है और रचना काल में ऐसा ही करता भी है। इस जानकारी को कार्यरूप में परिणत करने का कार्य समीक्षा-वृत्ति ही करती है। रचना में चुने हुए मार्मिक वस्तु-व्यापार लाने का कार्य साहित्यकार अपनी समीक्षा-वृत्ति का सम्बन्ध उसकी साहित्य-विधायिनी शक्ति

से है। यही इसे भी समझ रखना चाहिए कि इसी समीक्षा-वृत्ति के कारण साहित्यकार विषय के अनुसार छन्द, भाषा शैली आदि का चुनाव करता है। साहित्यकार की समीक्षा-वृत्ति का सम्बन्ध इस साहित्य-विधायनी शक्ति से ही नहीं प्रत्युत स्वतः साहित्य की वस्तु या उसके विषय से भी है। वह इस प्रकार कि साहित्यकार जगत् और जीवन का दर्शक मात्र नहीं होता, वह उसका सूक्ष्म निरीक्षक भी होता है, उनके कु सु पर भी उसकी दृष्टि जाती है, वह उनका समीक्षक भी होता है; और इस समीक्षा को अपने साहित्य में निहित करता है, जिसका अभिप्राय होता है श्रोता, पाठक या दर्शक को सदैव सु-की ओर ले जाना। वह अपनी बुद्धि और अपने हृदय द्वारा की गई जगत् और जीवन की समीक्षा को साहित्य की काया में रखता है। उसकी यह समीक्षा साहित्य के रूप में ही आती है। वह इसे कोरे प्रचारवाद के रूप में नहीं आने देता। कोरे प्रचारवाद के अनुयायी साहित्यकार का शाश्वत मूल्य भी नहीं और सच्चा साहित्यकार तो नित्य होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्यकार में निहित जगत् और जीवन की समीक्षा-वृत्ति ही उसे उच्चपद पर प्रतिष्ठित करती है। इसी वृत्ति केकारण वह द्रष्टा, अन्तर्दर्शी, चिन्तक, लोकोपकारक आदि रूपों में प्रगट होता है। इस प्रकार विदित यह होता है कि जो साहित्यकार जगत् और जीवन की समीक्षा नहीं देता उसकी नित्यता में संदेह किया जा सकता है। इस मीमांसा का निष्कर्ष यह कि साहित्यकार पहिले समीक्षक होता है तब साहित्यकार। उसकी समीक्षा का सम्बन्ध विषय-विधान से भी है और विषय से भी, और वह जगत् और जीवन का समीक्षक होता है।

यहाँ एक बात कहने से छूट रही है वह है साहित्यकार से हमारा तात्पर्य। साहित्यकार से हमारा तात्पर्य कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति से है, जो काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध प्रस्तुत करते हैं। समालोचना भी साहित्य के ही अन्तर्गत आती है। उस पर तो विचार हो ही रहा है।

साहित्यकार की समीक्षा का क्षेत्र प्रधानतः जगत् और जीवन है और समालोचक की समीक्षा का क्षेत्र जगत् और जीवन की समीक्षा के आधार पर निर्मित साहित्य। एक प्रधानतः जगत् और जीवन का समालोचक है और दूसरा प्रधानतः साहित्य का। ऐसा साहित्य जिसमें समीक्षित जगत् और जीवन का तत्व होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि समालोचक समीक्षा की समीक्षा करता है। किसमें समीक्षा की वृत्ति कैसी है और कौन उसे किस रूप में देता है, यहाँ इस विषय में घपला न होना चाहिये। साहित्यकार की

जगत् और जीवन की समीक्षा साहित्य के रूप में आती है और इस समीक्षा के आधार पर समालोचक सच्चे अर्थों में कही जाने वाली या प्रचलित समीक्षा का निर्माण करता है। एक की समीक्षा साहित्य से आवृत्त रहती है और दूसरे की समीक्षा अपने सत्य रूप में प्रकाशित होती है। इस मीमांसा से यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि समालोचक की समीक्षा साहित्य को लेकर चलती है और साहित्यकार की समीक्षा जगत् और जीवन को लेकर। इस प्रकार साहित्यकार और समालोचक की समीक्षा के क्षेत्र की तथा उसके कार्य की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

साहित्यकार और समालोचक के सम्बन्ध के विषय में यह तथ्य अति प्रचलित है कि समीक्षक साहित्यकार का समानधर्मा होता है। ऐसा समानधर्मा अपने साहित्य को समझने के लिए भवभूति जैसे समान धर्मा के भविष्य में उत्पन्न होने के विश्वास पर ही सन्तुष्ट थे—क्योंकि काल अनन्त है और पृथ्वी विस्तृत—

उत्पत्स्यते मम कोपि समानधर्मा कालोह्यि
अयं निरवधिः विपुलाच्च पृथिवी।

यदि सच पूछा जाय तो समालोचक का परम औचित्य उसके (साहित्यकार के) समान धर्मा बनने में ही है। समालोचक सहृदय होता है—साहित्यकार के समान हृदय धारण करने वाला और भावुक। उसमें साहित्यकार या कवि-कर्म की प्रक्रिया की अभिज्ञता का होना आवश्यक है। साहित्यकार कैसी परिस्थितियों में पड़कर रचना करता है, यदि उसने रचना-विधान का कोई विशिष्ट मार्ग ग्रहण किया है तो क्यों किया है, आदि बातों की जानकारी के लिए समीक्षक में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह साहित्यकार की रचना के माध्यम द्वारा उसके हृदय के तले तक पैठ सके, अन्यथा वह साहित्यकार का समान धर्मा या उसके समान हृदय वाला कैसे हो पाएगा। इसी कारण बेनट-जानसन ने कहा है कि किसी कवि की समीक्षा के लिये कवि शक्ति ही अपेक्षित होती है, सामान्य कवि की नहीं, श्रेष्ठ कवि की। (टु जज पोयट्स इज आनली दि फेकलटी आव पोयट्स; एन्ड नाट आव आल पोयट्स, बट दि बेस्ट.) यहाँ कवि (पोयट्स) का अर्थ चाहे जो लगाया जाय—जैसे, वस्तुतः कवि का ही—परन्तु इससे ध्वनि समानधर्मा की ही निकलती है। समालोचक का साहित्यकार के समानधर्मा न होने पर उसकी

रचना की परिस्थिति आदि के न समझने की आशंका उत्पन्न हो सकती है और तब वह साहित्यकार के प्रति अन्याय भी कर सकता है; उसको ग़लत भी समझ सकता है। जहाँ तक साहित्यकार और समालोचक के इस सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ तक किसी को आपत्ति नहीं।

साहित्यकार और समालोचक के सम्बन्ध के विषय में यह भी कहा जाता है कि साहित्यकार साहित्य प्रस्तुत करता है और उसका रस लेता है परिडत—

कविः करोति काव्यानि रसं जानाति परिडतः।

यहाँ रस लेने वाला परिडत दो अर्थों में प्रयुक्त जान पड़ता है। एक तो पटु व रसिक के रूप में और दूसरे शास्त्रज्ञ वा समीक्षक के रूप में। रसिक और समीक्षक में हम भेद स्वीकार करते हैं। रसिक रस लेते हुए भी समीक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि समीक्षक के लिए अनेक साधनों की अपेक्षा होती है। वह साहित्य-मुग्ध हो सकता है, परन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह समीक्षा कर सके। वह रस लेकर भी निष्क्रिय रहता है, समीक्षा नहीं कर पाता और समीक्षक रस लेने के साथ ही समीक्षा के लिए सक्रिय होता है, क्योंकि अपने में विहित शक्ति के कारण—जो उपार्जित और स्वाभाविक दोनों हो सकती हैं—वह समीक्षा के साधनों से सम्पन्न होता है; अर्थात् उसमें समीक्षा के लिए भाषा होती है और साथ ही विश्लेषण वर्गीकरण आदि की शक्ति। हाँ, जब रसिक को ये साधन मिल जायँ तब वह समीक्षक अवश्य हो जायगा। रसिक और समीक्षक के इस भेद के साथ ही यह भी स्पष्ट है कि साहित्यकार की रचना की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं और त्रुटियों के भी देखने के लिए उसमें विश्लेषणा शक्ति की अपेक्षा होती है। बिना इस विश्लेषणा शक्ति के समीक्षक साहित्यकार के महत्व को उद्घाटित नहीं कर पाएगा, जो उसका प्रधान कार्य होता है। साहित्यकार की पदप्रतिष्ठा के निर्धारण का सम्बन्ध समालोचक की विश्लेषणा शक्ति से ही है। अपनी इस शक्ति का अवलम्ब ले समालोचक कभी-कभी अन्धकार में पड़े हुए और पिछड़े हुए साहित्यकार गिने जाने वाले को सम्यक रूप से साहित्य-संसार के सम्मुख ला खड़ा कर देता है और तब उसका सच्चा मूल्य समझा जाता है। इस प्रकार समीक्षक अन्धकार में पड़े और पिछड़े हुए समझे जाने वाले साहित्यकारों के उद्धार कर्ता के रूप में कभी-कभी दृष्टिगत होता है, जिसका मूल मन्त्र है उसकी विश्लेषणा शक्ति। समालोचक की वर्गीकरण की शक्ति का सम्बन्ध भी विश्लेषणा शक्ति

से ही है, जिसके द्वारा समीक्षा में स्पष्टता तो आती ही है साथ ही विश्लेषण में भी सुविधा होती है।

समालोचक साहित्यकार का समानधर्मा होता है और ऐसा बनकर ही वह उसके साहित्य का विश्लेषण, वर्गीकरण आदि करता है। अर्थात् वह साहित्यकार की वस्तु साहित्यकार की दृष्टि व रुचि के अनुसार ही देखता है। उसकी कोई अपनी रुचि नहीं होती। किसी रुचि वा सिद्धान्त के आधार पर की गई समीक्षा को इधर सच्ची समीक्षा नहीं कहा जाता। इस विषय में हमें कहना यह है कि समालोचक की उसके अध्ययन, मनन, परिस्थिति आदि के आधार पर निर्मित अपनी कोई रुचि तो अवश्य होती है और वह उसका उपयोग किसी न किसी रूप में समीक्षा में करता ही है। जहाँ यह रुचि समीक्षा में खुलकर अपनी लीला दिखाने लगती है वहाँ साहित्यकार के प्रति प्रायः अन्याय होता हुआ भी दिखाई पड़ने लगता है। समालोचक द्वारा किसी रुचि वा सिद्धान्त का निर्धारण और उसी के अनुसार खुले आम सभी देश और काल के साहित्य का नापा जाना सत्यतः उचित नहीं है। इस प्रकार की गई समीक्षा आज मान्य भी नहीं है। यह हो सकता है कि किसी साहित्यकार वा किसी साहित्यिकयुग वा काल की सारी परिस्थितियों के आधार पर किसी साहित्यकार वा साहित्यक युग वा काल के समीक्षार्थ—उसु के विवेचनार्थ—एक सम्यक् साधरण धारणा रुचि बना ली जाय और उसी के अनुसार उसकी समीक्षा प्रस्तुत हो जैसे प्रसाद वा छायावाद युग की सारी परिस्थितियों के आधार पर समीक्षाकार की कोई रुचि व धारणा बनती है; वह प्रसाद वा छायावाद-युग को उसी के अनुसार देख सकता है। रुचि का यह उपयोग सुष्ठ स्वीकृत किया जा सकता है। छायावाद-युग की विशिष्टताओं के आधार पर निर्मित आदर्श रुचि उस युग वा उस युग के साहित्यकार को समीक्षा में काम दे सकती है। यह रुचि उस युग के साहित्यकार में युग की विशिष्टताओं की दृष्टि से किसी प्रकार की कमी होने पर उसे (साहित्यकार को) दोषी भी ठहरा सकती है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जब किसी समालोचक की रुचि तथ्यों के आधार पर निर्मित होती है और वह उसके अनुसार समालोचना प्रस्तुत करता है तब किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने की आशंका नहीं रहती।

श्री कन्हैयालाल सहल एम० ए०

रसास्वादन और विघ्न

रस-दशा चित्त की एकाग्रता अथवा अभिनवगुप्त के शब्दों में संविद्वि-श्रान्ति की अवस्था है। रसास्वाद को 'वीतविघ्ना प्रतीतिः' के नाम से अभिहित किया गया है। यद्यपि रसानुभूति सम्बन्धी विघ्नों की इयत्ता निर्धारित कर देना सम्भव नहीं तथापि अभिनव गुप्त ने सात मुख्य विघ्नों की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित किया है, जिनका दिग्दर्शन मात्र नीचे किया जाता है।

पहला विघ्न

कवि अथवा नाट्यकार कल्पना का आश्रय लेता है किन्तु उसकी कल्पना अवास्तविक न लगनी चाहिए। इन्दुमती अथवा रति-विलास में कवि ने कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया है किन्तु वह हमें कितना मार्मिक और स्वाभाविक लगता है। इन्दुमती अथवा रति ने इस प्रकार का विलाप किया होगा या नहीं इस प्रश्न पर हमारा ध्यान नहीं जाता। काल्पनिक वर्णन भी यदि संभाव्य न जान पड़े तो हम कदापि रस-मग्न नहीं हो सकते। यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है। पत्थरों के पुल की सहायता से राम का समुद्र पार करना अथवा हनुमान का द्रोणागिरि पर्वत को उठाकर ले आना आदि अनेक ऐसे प्रसङ्ग रामायण में आते हैं जिनकी सम्भावना पर बहुत से लोग प्रश्न उठाया करते हैं किन्तु वहाँ पर भी, यदि गहराई से देखा जाय, तो पाठकों की प्रतीति में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि पाठक जानते हैं कि राम और हनुमान असाधारण प्राणी हैं। अल्पावस्था में ही राम द्वारा धनुष-भङ्ग और अनेक राक्षसों के वध का प्रसङ्ग उनके सामने आ चुका है। अरिस्टाटल ने सम्भवतः इसीलिए कहा है "The poet should prefer probable impossibilities to improbable possibilities. राम आदि अलौकिक शक्ति सम्पन्न लोकनायकों की अपेक्षा में जब हम घटना-चक्र पर विचार करते हैं तो असम्भव घटनाएँ भी हमें संभाव्य लगने लग जाती हैं। कभी-कभी संभव घटनाएँ भी असंभाव्य लगती हैं, जिससे प्रतीति में बाधा

पड़ने की संभावना रहती है। उदाहरण के लिए जहाँ पंचवटी में गुप्तजी ने सीता-लक्ष्मण का देवर भावी जैसा वार्तालाप करवाया है वह संभाव्य तो है किन्तु कुछ आलोचक लक्ष्मण के चरित्र को देखते हुए इसमें अनौचित्य के दर्शन करते हैं और इसे सम्भव नहीं मानते यद्यपि यह संभवनीय अवश्य है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका में इसी बात को बड़े सारगर्भित शब्दों में प्रकट किया है—

"एतदुक्तं भवति। यत्र विनेयानां प्रतीति खण्डना न जायते तादृक् वर्णनीयम्।" (लोचन पृ० १४५) स्वयम् आनन्दवर्धन ने भी औचित्य का स्पष्टीकरण करते हुए अपने ध्वन्यालोक में (पृ० १४४-५२) इसका विस्तृत विवेचन किया है। क्रोसे ने भी अपने सौन्दर्य शास्त्र में (पृ० ३२) संभावना सिद्धान्त (The theory of the Probable) का वर्णन करते हुए इसी बात पर जोर दिया है। अभिनव गुप्त के शब्दों में रसास्वादन का पहला विघ्न है—"प्रतिपत्तावयोग्यता-संभावना-विरह।"

दूसरा विघ्न

अभिनेता शकुन्तला अथवा दुष्यन्त का अभिनय कर रहा है। यदि दर्शक पात्र के स्थान में अपने को समझने लग जाय तब भी रस की सम्यक् प्रतीति नहीं होगी। दर्शकों के सामने प्रेम-व्यापार प्रदर्शन में लज्जा आदि स्वाभाविक ही है। यदि दर्शक पात्र के भावों को दूसरों के समझता है तो उसे क्या पड़ी है जो वह इस कार्य में दिलचस्पी ले? वह ऐसी हालत में तटस्थ हो जायगा। स्वगतत्व और तटस्थ सम्बन्धी दोनों दोषों का निराकरण साधारणीकरण द्वारा हो जाता है। वस्तुतः देश, काल और व्यक्ति-विशेष की अनपेक्षा में ही सच्ची रसानुभूति संभव है। "स्वगत परगत्व नियमन देशकाल विशेषावेशः"—यह है दूसरा विघ्न। इसका विशेष सम्बन्ध साधारणीकरण से है जिसकी विस्तृत चर्चा किसी अन्य लेख में की जायगी।

तीसरा विघ्न

"निज सुखादि विवशीभावः।" यदि किसी को लॉटरी में लाखों रुपये मिल गये हों और उसी समय वह नाटक देखने जाय तो उसका चित्त नाटक देखने में न लगेगा अथवा यदि दर्शक अपने किसी वैयक्तिक दुःख से पीड़ित हो तब भी उसका दुःख रसास्वाद में बाधक होगा। नाटक में सङ्गीतादि विविध मनोरम उपकरणों द्वारा इस विघ्न को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

चौथा और पाँचवाँ विघ्न

भावों की स्पष्ट और तत्कालिक अनुभूति के लिए नाटक में प्रसाधनों की पूर्णता आवश्यक है। स्फुटता के अभाव में भी रसास्वाद में बाधा उपस्थित होती है! भावानुभूति के लिए वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। सुनी हुई वस्तुओ की अपेक्षा देखी हुई वस्तुओं का स्थायी प्रभाव पड़ता है। अभिनय की विविधता (आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य) आदि द्वारा नाटक में इस प्रकार का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। किन्तु उत्कृष्ट कोटि के अभिनय द्वारा ही स्थायी भाव भली भांति जाग्रत हो पाते हैं और आनंद का अनुभव होता है। प्रतीत्युपाय वैकल्प और स्फुटत्वाभाव है चौथा और पाँचवाँ विघ्न जिसके निराकरण के लिए नाटक में अभिनय, नाट्यधर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का आश्रय लिया जाता है। (विशेष विवरण के लिए नाट्यशास्त्र (भरत) का १२ वाँ और २० वाँ अध्याय देखिए।

छठा विघ्न

छठा विघ्न है अप्रधानता। मुख्य वस्तु है रसोत्पत्ति। विभावादि सब उसके अङ्गभूत हैं। गौण वस्तुओं के ज्ञान से हमारे मन की तृप्ति नहीं होती। आप विशेषणों पर विशेषण जड़ते चले जाइये किन्तु जब तक विशेष्य का नामोल्लेख नहीं करेंगे तब तक काम नहीं चलने का। यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्थायी भावों को ही प्रधान क्यो माना जाय और संचारी भाव आदि की गौणता किस आधार पर स्वीकृत की जाय? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि स्थायीभाव कम से कम प्रच्छन्न अथवा सुप्त अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित हैं; व्यभिचारी भावों के लिए यह नहीं कहा जा सकता। ग्लानि, शंका आदि व्यभिचारी भाव सब मनुष्यों के हृदय में अथवा सब समय नहीं पाये जाते। निम्नलिखित दो वाक्यों को लीजिए—

१—यह मनुष्य ग्लान है।

२—राम उत्साह और शक्तिसम्पन्न है।

जब हम पहला वाक्य पढ़ते हैं तब स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य को क्यों और किस बात पर ग्लानि हो रही है किन्तु दूसरे वाक्य के विषय में इस तरह का कोई प्रश्न नहीं उठता। हम यह नहीं पूछना चाहते कि राम में उत्साह क्यों है। इससे ज्ञात होता है कि उत्साह तो हृदय का स्थायी भाव है, ग्लानि नहीं। व्यभिचारी भाव तो सहायक मात्र हैं, प्रधानता उनको नही दी जा सकती। किंकिणी-नाद सौन्दर्य-वृद्धि का कारण हो सकता,

है किन्तु उससे गौ पयस्विनी नहीं हो जाती। अभिनवगुप्त ने कहा है—

रसध्वनिर्न यत्रऽस्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसंपदः?

जब साधन ही साध्य बन जाता है तब अप्रधानता नामक विघ्न रस की प्रतीति में बाधा उपस्थित करता है।

सातवाँ विघ्न

सातवाँ विघ्न संशय योग है। अश्रु आनन्द के भी हो सकते हैं और हर्ष के भी। जहाँ पर इस विषय में संशय बना रह जाय वहाँ भी रस का सम्यक आस्वादन नहीं हो सकेगा। यदि किसी श्लोक में अश्रु-प्रवाह, चिन्ता और पीड़ा का वर्णन किया जाता है तब यह संशय बना ही रहता है कि यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यंजना की जा रही है अथवा करुण रस की। क्योंकि विप्रलम्भ और करुण दोनों रसों में ही अश्रु-प्रवाह अनुभाव के रूप में देखा जाता है और चिन्ता और पीड़ा भी दोनों के संचारी भाव हैं। यदि विभाव का वर्णन कर दिया जाय तो यह संशय दूर हो जाता है क्योंकि करुण रस निरपेक्ष भाव और विप्रलम्भ शृङ्गार सापेक्ष भाव लिये रहता है। अर्थात् करुण रस में आलम्बन की सत्ता ही नहीं रह जाती, उसकी मृत्यु दिखलाई जाती है, विप्रलम्भ में ऐसा नहीं होता, वहाँ पर आलम्बन से वियोग मात्र होता है।

भारतीय साहित्य में रस का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। आधुनिक विकसित मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर यदि रस का विवेचन किया जाय तो साहित्य का बड़ा उपकार हो।

प्रो० रञ्जन एम० ए०

सन्त-साहित्य की मूल-चेतना

उपनिषदों ने महत् की जिस ज्ञान-गरिमा द्वारा भारतीयों की चिन्तन-क्रिया को सजग किया, वहाँ पाण्डित्य और विद्वत्ता से शून्य जन-समुदाय को अपनी ओर खींच न सकी। हजारों तरह के विचारों में फैला हुआ भारतीय-दर्शन आम लोगों के जीवन को स्पर्श न कर सका। वेद और उपनिषद् के अपरिमेय-ज्ञान-स्त्रोत जनता की भावना को स्पर्श न कर सकने के कारण सूख गये—उनके भीतर की चेतना-शक्ति प्राण-विहीन होकर वर्षों तक विद्वत्-मंडली की तर्क-क्रीड़ा का आधार बनी रही। उसमें रस न रहा, भक्ति न रही। धर्म यदि सत् को हृदय में धारण करने का नाम है; तो मध्य-युग का हिन्दू-धर्म, धर्म न रहा। कुछ पुस्तकों में आवद्ध व शुष्क दार्शनिक सिद्धान्त मात्र रह गये। उनसे भला व्यापक मानवता अपनी भाव-पिपासा की तृप्ति कैसे करती? फिर उस असीम को वर्ण और जाति की कठोर शृङ्खला में ऐसा जकड़ा कि उसकी हवा भी आम लोगों तक न पहुंच सकी। अनधिकारी और दलालों के हाथों में पड़कर हृदय के इस व्यापार का दिवाला ही निकल गया। पर धर्म से विमुख ऐसे समाज को आगे ले चलने का श्रेय है स्वामी रामानन्द को। सच पूछा जाय तो मध्य-युग की सारी स्वाधीन चिन्ता के गुरू रामानन्द थे—

भक्ती द्राविड़ उपजी, लाये रामानन्द।
परकट कियो कबीर ने, सप्त द्वीप नवखंड॥

उन्होंने रैदास, कबीर, धन्ना, सेना और पीपा आदि को दीक्षा देकर जाति और जन्म के स्थान पर भक्ति और प्रेम की प्रधानता स्वीकार की—

जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि को होई॥

निस्सीम को भाव-साध्य तक पहुंचाने की यह पहली सफल साधना थी। प्रेम-साध्य की यह शक्तिमयी हृदय वीणा हिन्दुस्तान के कोने-कोने में बज उठी। हिन्दू-मुस्लिम दोनों ने इस परमात्म-तत्व की दीक्षा इन रमते जोगी

और घूमते फकीरों से ली—

इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग।
इसक अलह मौजूद है, इसक अलह का रंग॥

'एकै अच्छर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय' की विचार-लहरी सभी जगह लहराने लगी। यह पंडिताई को, भाव-शून्य विद्वता की चुनौती थी—यह असीम की संकीर्णता को फटकार थी। साम्य की विषमता को चेतावनी थी। रामानन्द की उपासना पद्धति की स्वतन्त्रता, उनकी उदारता, उनकी भक्ति-प्रधान ज्ञानधारा हमें मध्यकाल में प्रतिविम्बित होते दिखाई देती है।

सन्तों की इस विचार-धारा की तीन विशेषताएँ हैं—(१) धर्म की समानता, (२) व्यवहार की समानता और (३) लोक-जीवन की समानता। और इनके जीवन की इस साम्य-त्रिवेणी की मूल-चेतना एक ऐसी अपरिमेय शक्ति के भीव-सानिध्य द्वारा पैदा हुई है, जो निर्गुण और निराकार के तत्व अपने में रखते हुए भी कोरी निर्गुण-भावना की जननी नहीं, बल्कि प्रेम-प्रधान ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर का स्वरूप धारण कर हृदय लोक में पैदा हुई, जिसमें केवल ज्ञान-गम्य प्रेम का आश्रय ही न था, वरन् साधक और साध्य के भाव का मेल भी था। सन्त और अनन्त का प्रेम-योग था। यही कारण है कि जहाँ यह ठोस रूप से उपासना-दोषों से मुक्त है, वहीं निर्गुण-निराकार के रूखे पन और अगमता से भी दूर है। उनका हृदय प्रेमी और प्रेम पात्र अथवा प्रियतम और प्रिया का सहेटस्थल बन जाता है। और तत् रूप वह जगत के सभी हृदयों को उसी मस्ती, उसी इश्क की बेताब का शिकार बनता है—अपने प्रियतम का उपासना-मन्दिर मानता है। 'तेरा साईं तुज्झ में' का यह अटूट विश्वास ही उनके हृदय से प्रेम-त्रिधारा के रूप में फूट निकला। सन्तों के धर्म की साम्य भाव-सरिता में सहज साधना और प्रेम-भक्ति के कमल खिल उठे—

साधों सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन सें उपजी—
दिन दिन अधिक चली॥

कमल भी ऐसे, जिन्हें कभी मुरझाना आता नहीं। और उनकी प्रेम-भक्ति! वह तो विरह में डूबी हुई—अपूर्ण को सम्पूर्ण में मिला देने की, सीमा को असीम में खपा देने की व्याकुल साधना है—

तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।

उनके व्यवहार-साम्य की पवित्र गङ्गा में भौतिक-स्थिति की भेद-भावना से विपरीत, आत्म-समता और बन्धुत्व की भाव-लहरी उठी। 'लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।' अपने लाल की ऐसी व्यापक उपस्थिति भला उनके हृदय में भेद-भावना कैसे उत्पन्न होने देती! वे तो स्वयं उस लाली के रंग में रंग जाते हैं—'मैं भी हुइ गई लाल' सभी उस एक रूप में मग्न हो जाते हैं। भेद-भाव की दीवार चूर-चूर हो गई। जल का एक-एक कण महासागर में मिलकर स्वयं महासागर बन गया। फिर 'दुई' रहती भी कैसे?

'ज्यों आतम अर बात इक त्यों ही राम रहीम' की सुरीली बाँसुरी बजने लगी और उस मस्तानी प्रेम-बाँसुरी के राग ने लोगों को विश्वास करा दिया—

जाति भी ओछी, करम भी ओछा,
ओछा किसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कहि रैदास चमारा॥

सन्त-साहित्य की तीसरी विशेषता लोक साम्य ने उस युग को कर्मकाण्ड की संकीर्णता से दूर कर, ईश्वर के इजारे (Monopoly) को छिन्न भिन्न कर, व्यापक मानव-धर्म के बीज जन-जीवन में बोये—ऐसा धर्म जिसे आम लोग बिना विशेष पांडित्य के, बिना विद्वत्ता के, केवल मानव और प्रेम के मेल से ही समझ सकें—यह उस युग का लोक पक्ष था। उसे ऐसा सहज बोध गम्य बनाना कि मामूली आदमी भी प्रेम की उस हाला को पीकर, भक्ति की उस गंगा में नहाकर तृप्त हो जावें। धर्म के प्रचार के लिये घेरे नहीं रहें—"नाम अनन्त अनन्त के सो सब एक समान" ने जहाँ अलग-अलग धर्मों को लाकर एक मंच पर खड़ा कर दिया, वहीं धर्म पर बपौती कायम करने वाले वर्गों की उपेक्षा की—उनके मध्यस्थ बनने की उसे आवश्यकता न रही। राजा और प्रजा के बीच का सीधा सम्बन्ध कायम हुआ। इन सब कारणों से ही सन्तों के उस युग में हमें लोक-साम्य की ज्योति चमकती दिखलाई देती है। सन्त युग ब्राह्म-धर्म और शास्त्र-धर्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। यह धार्मिक क्रान्ति इतनी महान् है कि उस समय की राजनैतिक शक्ति भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रही। सन्त युग धार्मिक प्रगति का युग था। प्रगतिवाद भाव के अभाव-पक्ष की दृष्टि से नहीं—अपने फैलाव

और प्रसार के कारण। धर्म में प्रेमोल्लास और भक्ति विभोरता की रागनी गाकर उसे ऐसा सहज और आकर्षक बना दिया कि बिना वेद शास्त्र, कुरान या अवेस्ता ज्ञान के आम-लोग उसकी ओर प्रेम-विह्वल हो, मतवाले हो दौड़े। जिन भगवान के निराकार स्वरूप को तादात्म्य करने की कठोर भावना ने *उन्हें अभी तक उसकी ओर विचार भी न करने दिया था, आज वही* भगवान व्यक्तिगत उपासना, प्रेम-भक्ति का रूप धारण कर जन-समुदाय में व्याप्त हो उठे। इस सच्चे और लोक-धर्म ने कर्मकाण्ड को चैलेंज दिया, पूजा और बलिदान की कुप्रथाओं को झकझोर फेंका और कोरी दार्शनिकता को तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से देखा। जनता को विश्वास हो उठा कि ईश्वर-साक्षात् का मार्ग वेदों और कुरान का मार्ग नहीं, वह तो भक्ति का रास्ता है।

जिस तरह वेद कालीन कर्मकाण्ड और बाह्य उपासना के विरुद्ध ज्ञान-गम्य उपनिषद् ने आवाज उठाई, उसी तरह भाव शून्य कोरी उपासना और बाह्य-पूजा से ही ईश्वर तक पहुँचाने की झूठी धारणा वाले ब्राह्मण-धर्म को सन्तों के सहज-धर्म ने पीछा हटा दिया। पूरा सन्त-साहित्य 'सहज-धर्म' की 'सहज-साधना' से अनुप्राणित है। यह 'सहज-साधना' की ज्योति, सहज-भावना की सरिता, एवं सहज-प्रेम की बाँसुरी हिन्दी साहित्य में सन्तों की एक अमर देन है, और इस सहज साधना के तीन दृढ़ स्तम्भ हैं। जिनके ऊपर ही लय और ब्रह्मसाक्षात्कार की दुनियाँ खड़ी है।

तू तू करता तू हुआ, मुझमें रही न हूँ।
बलिहारी वा नाम की, जित देखूँ तित तूँ॥

गुरु कृपा से सच्चा रास्ता मिलता है। वही परम गुरु रहस्यमय के रहस्य को खोलता है। भक्त की जिज्ञासा, उसकी एकाग्रता 'सबद' के साथ योग करती है—
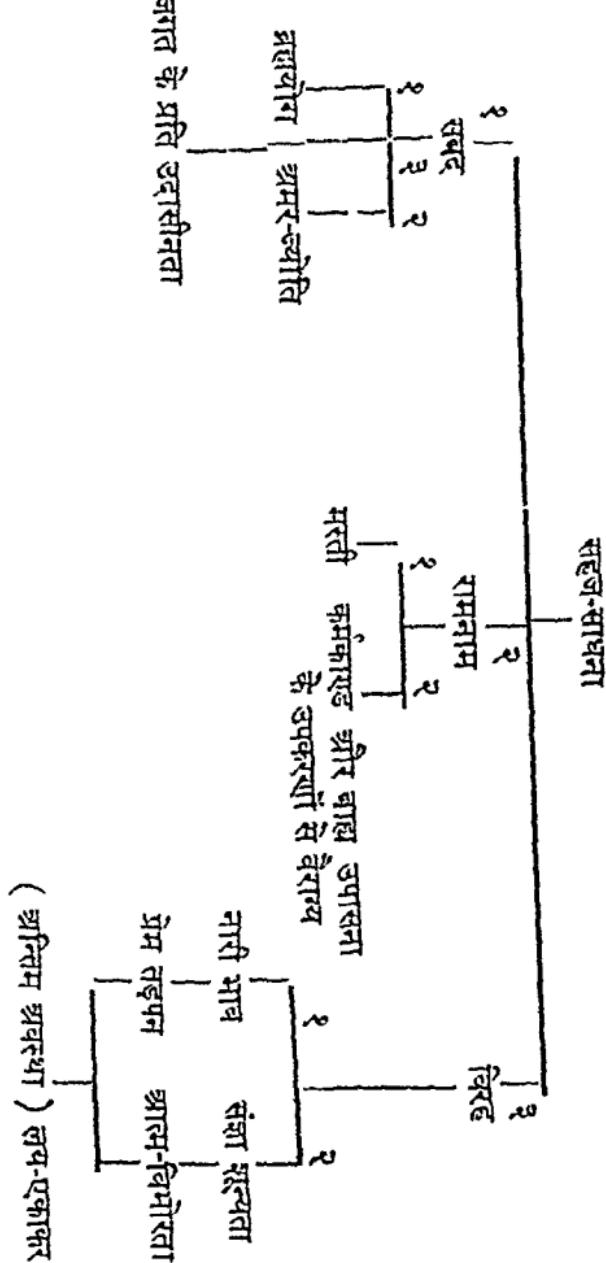
रस गगन गुफा में अजर झरै ।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ,
समुझि परै सब ध्यान धरै ॥

हृदय में 'सबद' के इस बोध ने हृदय को ही बदल दिया—वह हृदय, राम का हृदय हो गया—उनके प्रेम का शीशा बन गया। जो बिना 'पिउ' के, बिना प्रेम-राग के एक क्षण भी जीवित रहना नहीं जानता। इस 'सबद' की सिद्धि ही ब्रह्म से योग कर अन्तर में ज्योति जगा देती है जिससे प्रेमी का कण-कण जगमगा उठता है—

दरिया सतगुरु कृपा करि, सबद लगाया एक।
लागत ही चेतन भया, नेतर खुला अनेक॥

इस खिड़की के खुलते ही भक्त को प्रेम-लोक की झाँकी दिखलाई देने लगती है। संसार के सारे व्यापार उसे फीके लगने लगते हैं। हमारे बाह्य बन्धन कमजोर हो उटते हैं। थोड़ी-सी रटन उस बन्धन को तोड़ फेंकने में समर्थ होती है—

दरिया दूजे धरम से, संसय मिटै न सूल।
राम नाम रटता रहै, सर्व धर्म का मूल॥

निश्चय की इस अवस्था की प्राप्ति के बाद, धर्म की कुंजी 'राम नाम' के हाथ आते ही उसका मिलन का आत्म-विश्वास दृढ़ हो जाता है। उस विश्वास सूत्र के सहारे वह और आगे बढ़ता है, दुनियाँदारी की उसे सुध ही नहीं रहती, नाते-रिश्ते सब छूट जाते हैं—

दरिया साध और स्वाँग का, क्रोड़ कोस का बीच।
राम रता साँचा मता, स्वाँग काल की कीच॥

इस प्रकार आत्मा जब अदम्य उत्साह से भर गई, राम की रट जब लग गई, 'सबद' का राग जब गूँज उटा फिर क्या रह गया? अन्तर-ज्योति की मसाल ले आशिक प्रेम-लोक में 'साईं' को खोजने निकलता है पर प्रेम की परीक्षा अभी पूरी कहाँ हुई? उसका 'साईं' आँख मिचौनी करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अब उसे यह वियोग असह्य हो उटता है। विरह की पीर से आत्मा छटपटा उठती है। विरह की तीखी अनुभूति से आन्तरिक प्रेममयी साधना की यमुना में तरंगें उठने लगती हैं। उनसे कभी परिचय तो नहीं, परन्तु भीतर उनसे मिलने की ललक है, वह एक क्षण भी शान्त नहीं रहने देती—

व्याकुल विरह दीवानी, झरै नित नैनन पानी।
हरदम पीर दिल की खटकै, सुधि बुधि बदन हिरानी॥

भगवन् अपने भक्त की ऐसी दशा कहाँ तक देखें! और इधर भक्त भी

ऐसा रमा, प्रेम में ऐसा भूला, विरह में ऐसा जला कि उसे शरीर की सुधि भी न रही। उसके प्रेमी हृदय की 'नारी' 'साईं' से संयोग करने को तड़प उठती है। उसमें सती का तेज चमकने लगता है—

कहैं कबीर हरि दरस दिखाओ।
हमहि बुलाओ कि तुम चलि आओ॥

अथवा—

या खानादर आ एजों या खाना विपरदाज़म।

फिर क्या! अब तो स्वयं नंगे पैरों दौड़ते हैं। शान्त और अनन्त की यह संयोग झाँकी हृदय में प्रतिष्ठित हो जाती है। मिलन के इस अतुलित आनन्द में भक्ति को 'सुध-बुध रहै न कोय'। साधक और साध्य की यह चरम साधना यहीं पर सफल होती है। प्रेम का यह लय उसे अपने में समेट लेता है। अपने प्यारे का दीदार उसे अपने भीतर ही मिल जाता है और तब उसके हृदय से श्रेष्ठ-दर्शन का झरना कल-कल करता हुआ बहने लगता है—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

—

श्री कन्हैयालाल सहल एम० ए०

'साधारणीकरण' का शास्त्रीय विवेचन

अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अङ्क की कहानी एक वाक्य में कही जा सकती है किन्तु कवि कुल-गुरु ने तपोवन की सुषमा, पुष्प भारावनत लताओं तथा कुंजों का सौन्दर्य, शकुन्तला द्वारा पौधों की सिंचाई, सहेलियों का वार्तालाप, शकुन्तला की निसर्ग-सुन्दर रमणीय आकृति आदि विभावगत वर्णन के साथ साथ नायिका की लज्जाशीलता, उसके कटाक्षादि अनुभावों तथा औत्सुक्य आदि संचारी भावों के चित्रण द्वारा जो रस की मंदाकिनी प्रवाहित की है वह किसी भी प्रकार के एक वाक्य मात्र से कब सम्भव थी ? कविता वस्तुतः इतिवृत्त नहीं है, काव्य में वातावरण का चित्रण अपेक्षित होता है। किसी मनोविज्ञान की पुस्तकों में प्रेम का विस्तृत विश्लेषण पढ़ लेने पर भी रसोद्बोध नहीं हो सकता। काव्य, अर्थ-ग्रहण मात्र करवा कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने वाला बुद्धि का व्यापार नहीं है, काव्यगत रसास्वादन तो बिंबग्रहण आदि से ही होता है। केवल शृङ्गार रस का नाम लेने से रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। जब आप यह कहते हैं कि इस कविता के पढ़ने में मुझे बड़ा आनन्द आया तो जरा विश्लेषण करके देखिये तो ज्ञात होगा कि कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा शब्द-शिल्प का आश्रय ले ऐसा रूप-विधान आपके सामने उपस्थित किया जिसने आपको तन्मयता की स्थिति में लाकर रस मग्न कर दिया*। नाट्य-शास्त्र के प्रसिद्ध सूत्र में भी जहाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति का सिद्धांत उपस्थित किया गया है, प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। विभावादियों में जहाँ केवल विभाव अथवा केवल अनुभावादि के वर्णन में रस मिलता है वहाँ रस के अन्य अवयवों का अध्याहार अथवा आक्षेप कर लेना पड़ता है।

---

* When the writer does wish to arouse emotion, how can he do it? Not by talking about the emotion, not even by feeling it himself, he must show us the objects that excite the emotion.

—C. T. Winechester.

भरत-मुनि के उक्त सूत्र से रस-सिद्धान्त का पूरा स्पष्टीकरण न हो सका, इसलिये परवर्ती अनेक व्याख्याताओं ने अपने अपने दृष्टिकोण से इस सूत्र की विविध व्याख्याएँ उपस्थित की जिनमें से भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन चार व्याख्याताओं के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। भट्ट लोल्लट ने मूल पात्र दुष्यन्तादि में रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हुए यह बतलाया कि अभिनेता के रङ्ग, वेशभूषा, कार्य कलाप आदि को देखकर दर्शक उस पर दुष्यन्तादि का आरोप कर लेने के कारण चमत्कृत हो जाते हैं। यह मत उत्पत्तिवाद के नामसे प्रचलित हुआ। आचार्य शंकुक का मत, जिन्होंने यह प्रतिपादित किया कि रस की स्थिति तो मूल पात्र में ही पाई जाती है, अनुमान से दर्शक अभिनेता को दुष्यन्तादि मानकर चमत्कार पूर्वक आनन्दित हो जाते हैं, अनुमितिवाद कहलाया। रस सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्ट नायक ने (जो साधारणीकरण सिद्धांत के उद्‌भावक भी हैं) इन दोनों व्याख्याताओं के मत को सदोष सिद्ध किया। भट्ट लोल्लट और शंकुक का मत "ताटस्थ्य और आत्मगनत्व" नामक दोषों से दूषित था। उक्त दोनों व्याख्याताओं के मतानुसार दर्शक पात्र के भावों को दूसरो के भाव समझता है। यह भी बड़ी वेतुकी बात है कि रस उत्पन्न तो होता है अनुकार्य (दुष्यन्त आदि) में और उसका उपभोग करता है दर्शक। इससे जहाँ समानाधिकरण के सिद्धाँत में बाधा पहुँचती है वहां दूसरी ओर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि दर्शक पात्र के भावों को दूसरों के भाव समझता है तो उसे क्या पड़ी है जो वह इसमें दिलचस्पी ले! वह ऐसी हालत में तटस्थ हो जायगा। फिर यदि दर्शक पात्र के स्थान में अपने को समझने लग जाय, तब भी रस की सम्यक् प्रतीति नहीं होगी क्योंकि दर्शकों के सामने प्रेम व्यापार-प्रदर्शन में लज्जा आदि स्वाभाविक ही है और जैसा भट्टनायक के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पण्डितराज ने कहा है—"रस हमारे साथ सम्बन्ध रखता है" यह प्रतीति भी नहीं ठहर सकती क्योंकि शकुन्तलादिक दर्शकों के तो विभाव हैं नहीं—वे उनके प्रेम आदि का तो आलंबन हो नहीं सकतीं; क्योंकि सामाजिकों से शकुन्तला आदि का लेना देना क्या? और बिना विभाव के आलम्बन रहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती; क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र समझना चाहते हैं उससे हमारा कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना चाहिये कि वह हमारा प्रेम-पात्र बन सके। आप कहेंगे कि 'स्त्री होने' के कारण वे साधारण रूप से विभाव बनने की योग्यता रख सकती हैं। यह भी ठीक नहीं क्योंकि

स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं, वे भी विभाव होने लगेंगी।"

भट्ट लोल्लट और शंकुक के मतों में एक बड़ी भारी त्रुटि यह भी थी कि उनसे करुण-रस में आनन्दानुभूति की समस्या का कोई हल नहीं मिलता; उल्टी उलझन और बढ़ जाती है। ऐतिहासिक पात्रों को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा था, उनका वर्णन पढ़-सुन कर अथवा देखकर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक में दुख की ही अनुभूति होनी चाहिए किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता भट्ट नायक ने इस समस्या के समाधान का भी सफल प्रयत्न किया। नाटक में जहाँ शकुन्तला का उल्लेख किया जाता है वहाँ शब्द की अभिधा शक्ति से दुष्यन्त की स्त्री अथवा कण्व की दुहिता का ही बोध होता है किंतु काव्य और नाटक में केवल अभिधा से ही काम नहीं चलता। इस लिये भट्ट नायक ने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य शक्तियों की कल्पना की। यह सच है कि सहृदय पहले पहल तो शकुन्तला को व्यक्ति-विशेष के रूप में ही देखता है। काव्य में कवि-कर्म कौशल तथा नाटक में साज-सज्जा और अभिनय-सौष्ठव आदि के कारण पाठक या दर्शक जो कुछ वह पढ़ता है या देखता है उसी में आत्म-विभोर होकर बारम्बार उसी का ध्यान करने लगता है। इसे भावना कहा जाता है और जिस शक्ति के द्वारा यह व्यापार निष्पन्न होता है उसे भट्ट नायक ने भावकत्व के नाम से अभिहित किया है। इस भावकत्व के कारण शकुन्तला का शकुन्तलात्व नहीं रह जाता, वह मात्र नारी के रूप में ही दर्शक के सामने आती है। देश और काल का बन्धन भी उस समय लुप्त हो जाता है। विभावादियों का सामान्य रूप में परिवर्तित हो जाना ही शास्त्रीय-भाषा में 'साधारणीकरण' कहलाता है।* भट्ट नायक का कथन है कि भावकत्व के अन्तर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है जिसका नाम है भोजकत्व अर्थात् आस्वादन करना। इस क्रिया के प्रभाव से हमारे रजोगुण और तमोगुण का लय हो जाता है और सतोगुण के आधिक्य से मन आलोकित हो उठता है, हृदय की संकीर्णता जाती रहती है, हमारी वृत्ति आनन्दाकार

---

* अभिनव भारती पृष्ठ २७८ में भट्ट नायक के मत का उल्लेख करते हुये कहा गया है—निबिड़ निजमोहसंकटता निवारण कारिणा विभावादि-साधारणीकरणात्मना अभिधातोद्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।"

८

हो जाती है।* आचार्य मम्मट के शब्दों में "साधारण भाव के बल से उस समय के सब परिमित प्रमतिभाव विगलित हो जाते हैं। उससे एक ऐसे अपरिमित भाव का उन्मेष होता है, जिनमें और कोई वेद्यान्तर सम्पर्क टिक नहीं पाता।" योग के अभ्यास से जिस प्रकार सत्य की अधिकता प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण के विलीन हो जाने से मन एकाग्र हो जाता है। मन की इस एकाग्रता में दुःखात्मक वर्णन भी हमें रस-मग्न करने में समर्थ होते हैं। "रसात्मक बोध के विभिन्न रूप" में आचार्य शुक्ल ने भी यह प्रश्न उठाया है। "क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्द स्वरूप कहा गया है, अतः दुःख की रूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर 'आनन्द' शब्द को व्यक्ति के सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। करुण-रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं" केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।" किन्तु अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में रसों की आनन्दरूपता को भी स्वीकार किया है।

भट्टनायक ने जिस प्रकार भरत के रस सूत्र की व्याख्या की है उससे तटस्थ तथा आत्मगतत्व दोषों का भी परिहार हो जाता है। साधारणीकरण को समझाते हुए मम्मट भट्ट ने कहा है—ये सब भाव मेरे, मेरे शत्रु के अथवा तटस्थ किसी के हैं, या न मेरे, न मेरे शत्रु के और न तटस्थ किसी के हैं—यह समस्त संकीर्ण सम्बन्ध विशेष स्वीकार अथवा परिहार यहाँ नहीं चलता। साहित्य क्षेत्र में जो भाव होता है, वह साधारण-समस्त सम्बन्धातीत है। साधारणीकरण की इस प्रकार व्याख्या करने पर तो तटस्थ और आत्मगतत्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

अभिनव गुप्त ने भी साधारणीकरण के महत्त्व को स्वीकार किया है।

---

* "येन रजस्तमसोस्तिरस्कारः, आनन्दाकारावृत्तिः, विषयान्तरतिरस्कारश्च स व्यापारो भोजकत्वमिति बोध्यम्।"

—काव्यप्रदीपोद्योत पृष्ठ ६६।

उसके मतानुसार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वासना रूप से स्थायी भाव पाये जाते हैं। जब कोई सहृदय कोई-कविता पढ़ता है या नाटक देखता है तो पहले तो वह काव्यगत अथवा नाटकीय पात्रों को व्यक्ति-विशेष के रूप में ही देखता है किन्तु बाद में वह अपनी प्रौढ़-बुद्धि, नटादि सामग्री तथा कवि-कर्म कौशल के कारण पात्रों को सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में ही देखने लगता है। अभिनवगुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व को अनावश्यक बतलाकर व्यंजना वृत्ति से ही रस सूत्र की व्याख्या की है।

साधारणीकरण किसका होता है? यह प्रश्न बहुधा उठाया जाता है। यह याद रखना चाहिए कि रस-सूत्र की व्याख्या करते हुये भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना की थी, इसलिए संस्कृत आलङ्कारियों के मतानुसार तो विभाव (जिसमें आश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन का समावेश किया जाता है), अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायीभाव सभी का साधारणीकरण होता है।

काव्य-प्रदीप में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

"तेन हि व्यापारेण विभावदयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते।"

३—अवश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणात्वेनीक्त रजोवृत्ति वद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम् (अभिनव भारती पृ० २८३)

४—ममैवैते शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकार परिहार नियमानध्य वसात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः।

(काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास)

भट्टनायक के अनुसार रस सूत्र की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की जाती है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ पर संयोग शब्द का अर्थ है सम्यकयोग अर्थात् साधारणात्मना ज्ञानम्। "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभाव रूप उपाधि से युक्त सत्व गुण की वृद्धि से प्रकाशित, रस की निष्पत्ति अर्थात् आस्वादन होता है।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए०

हिन्दी समीक्षा की प्रगति

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक हिन्दी समालोचना अपने नए रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण-ग्रन्थों में रसों, अलंकारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे रस और अलंकार, नायक और नायिका—साहित्यिक समालोचना के आधार-भूत तत्व ये ही हैं, पर जिन लक्षण ग्रन्थों की बात मैं कह रहा हूँ, उनमें इन तत्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल दृष्टि से की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्य-अनुशासन का कार्य इन लक्षण ग्रन्थों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे बुरे की पहचान तक ये नहीं कर सके। फिर इन्हें साहित्य समीक्षा की दृष्टि किस अर्थ में समझा जाय; यह भी एक समस्या ही है।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का ह्रास भी हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी, वही इन लक्षण ग्रन्थों की भी। दोनों ही संस्कारहीन, परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टि-रहित हो रहे थे। जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी में उस समय प्रस्तुत किए गए, उन्हें देख कर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना किसी भी समुन्नत साहित्य युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुलीं, और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द विशेष में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिये नहीं हैं, वे तो प्रगतिशील संसार की नानाविधि परिस्थितियों और सुख दुख की तरङ्गों में डूबने-उतरने और धुलकर निखरने के लिए हैं, और काव्य कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्य-जनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर

ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईं जी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशवदास का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या, उसके पीछे भी, हमारे साहित्य में ऐसे अन्वेषकों की कमी नहीं थी, जिन्होंने 'बिहारी' की होड़ में 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। रीतियुग के ये 'अप-टू-डेट' हिन्दी के प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीति-परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती होकर आए। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों की तुलना में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किए जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। परन्तु प्रथम बार साहित्य में जीवन की वास्तविकता का आवाहन करने वाले आचार्य द्विवेदी जी को इतिहास ने अपनी अमर उपाधि दी है।

द्विवेदीजी के समकालीन पण्डित पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र में काम कर गये हैं। शर्मा जी बिहारी की काव्य-कला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी में उन्हें उर्दू-फारसी का मुकाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था, तो बिहारी में ही। उनका झुकाव काव्य सज्जा और चमत्कार की ओर अधिक था। वे शब्दों के अद्भुत शिल्पी और अभिव्यञ्जना सौन्दर्य के परम प्रवीण पारखी थे। उनकी पैनी दृष्टि हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के विकास में स्मरणीय रहेगी।

इसी समय अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हुआ, जिसमें साहित्य सम्बन्धी कुछ सैद्धान्तिक व्याख्यायें की गई थीं, नाटक, उपन्यास तथा कहानी आदि साहित्याङ्गों का स्वरूप निर्देश करते हुये निबन्ध लिखे गये थे, जिनका बड़ा ही मार्मिक प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। पश्चिमी और भारतीय साहित्य-तत्वों की आरम्भिक तुलना 'साहित्यालोचन' में सुन्दर ढङ्ग से की गई है।

हिन्दी-समीक्षा की इसी आरम्भिक और नवचेतन अवस्था में पंडित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलङ्कार-शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार रस और अलङ्कार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे।

दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय सांचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की हिन्दी समीक्षा का निर्माण इसी आधार पर होना चाहिये ।

यह दावा करते हुए शुक्ल जी ने रस और अलङ्कार आदिको को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया । उन्होने उच्चतर जीवन-सौन्दर्य का पर्याय बनाकर रस और अलङ्कार पद्धति का व्यवहार किया । जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक आलोचना है, उन्होने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौन्दर्य के साथ रस और अलङ्कार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया । और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक भूमि पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है ।

शुक्ल जी ने अपनी उच्च काव्य-भावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की, वह उनके लिए ठीक थी । वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्खलित होने से बचे रहे । उत्थानमूलक आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी संपर्क नहीं छूटा ।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है । यहाँ हम देखते हैं कि शुक्लजी ने कतिपय व्यक्तिगत रुचियों और मतों का आग्रह किया है, अतएव वे सब कवियों के साथ पूर्ण तटस्थता नहीं बरत सके हैं । कथात्मक साहित्य को उन्होंने मुक्तक-रचना की तुलना में श्रेष्ठता दी है, क्योंकि काव्य में जीवन की नाना परिस्थितियों और प्रसङ्गों के चित्रण में वे काव्यत्व देखने के अभ्यासी थे । निर्गुण मत के प्रथम कवि कबीर की अपेक्षा वे सगुण मत को श्रेष्ठ और काव्योपयुक्त समझते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि काव्य-सम्बन्धी निष्पक्ष माप में सर्वत्र सहायक नहीं हुई ।

वर्तमान साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तित्वों और नए विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छान-बीन करने में भी शुक्लजी एक प्रकार से उदासीन ही रहे । वे अभिव्यक्ति की प्रणालियों तक ही पहुँचे अथवा अपनी बँधी-बँधाई दार्शनिक धारणाओं के आधार पर सम्मतियाँ देते गये ।

नवीन विश्लेषण और नए साहित्य की वास्तविक विकास दिशा के अध्ययन में शुक्लजी ने अधिक समय नहीं लगाया।

विश्लेषण का समारोह ऐतिहासिक विकास-प्रदर्शन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता शुक्लजी में उतनी न थी जितनी सामान्यरूप से साहित्य-मात्र और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेष पूर्ण और प्रसरणशील साहित्य के लिये अपेक्षित थी। तथापि हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने जो युगप्रवर्तक कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समीक्षा कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नए समीक्षक क्षेत्र में आए हैं और कार्य कर रहे हैं। नवीन साहित्य के प्रमुख कवियों, नाटककारों और औपन्यासिकों आदि पर विचारपूर्ण निबन्ध और पुस्तकें उपलब्ध हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध-संबंधी कार्य भी अग्रसर हुआ है। यह भी हमारे वर्तमान समीक्षा-साहित्य का एक अङ्ग है। स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र के समीक्षक थे और हैं। नए साहित्य के समीक्षकों की भी अनेक शैलियाँ हैं और उनकी समीक्षा-दृष्टियों में भी पर्याप्त भेद है। कुछ समीक्षक अधिक भावुक और कल्पनाप्रवण हैं। वे अपनी समीक्षा में भी काव्यात्मक शैली का प्रयोग करते हैं और अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को सुन्दर कल्पनाओं और रूपकों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। ऐसे समीक्षकों की समीक्षा में विषय के स्वरूप और उनके भेद-उपभेदों को ग्रहण करने में सहायता भले ही न मिलती हो, पर समीक्षकों की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का मनोरंजक अध्ययन अवश्य हो जाता है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाएँ इस श्रेणी की कही जा सकती हैं। डा० रामकुमार वर्मा की समीक्षाओं में भी काव्यात्मकता का सौन्दर्य है, यद्यपि उन्होंने वास्तविक विश्लेषण की ओर भी प्रयत्न किया है। कुछ अन्य समीक्षकों ने ऐतिहासिक विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए कवियों की विशेषताओं का विवरण दिया है। उन्होंने रचनाओं तथा रचनाकारों के मानसिक तथा उनके काव्यात्मक सौन्दर्य को भी परखने की चेष्टा की है। कवियों के मानसिक विकास के साथ उनके रचना सौन्दर्य की प्रगति का उन्होंने धारावाहिक आकलन किया है। उदाहरण के लिये 'हिन्दी साहित्य में बीसवीं-शताब्दी' नामक पुस्तक उपस्थित की जा सकती है जिसमें कवियों की मनोवैज्ञानिक और कलात्मक विशेषताओं को परखने की चेष्टा की गई है।

इधर कुछ समय से वादों या विशेष मतों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसके कारण हिन्दी समीक्षा कई सम्प्रदायों में विभक्त होती जा रही है। एक ओर डा० रामविलास शर्मा और श्री शिवदान सिंह जैसे समीक्षक हैं, जो मार्क्सवादी विचार-पद्धति को अपनाकर समीक्षाएँ लिख रहे हैं। डा० राम-विलास आरम्भ में ऐतिहासिक विकास और साहित्यिक सौन्दर्य का ध्यान रखकर समीक्षाएँ लिखा करते थे, परन्तु हाल की उनकी समीक्षाओं में अधिक कट्टरता आ गई है। अब वे समस्त काव्य को पूँजीवादी और क्रान्तिवादी काव्य की दो श्रेणियों में विभक्त करने के पक्षपाती हो गये हैं। इस प्रकार की समीक्षा दृष्टि हमारे काव्य के वास्तविक विकास को परखने में कहाँ तक समर्थ हो सकेगी, यह संदेहास्पद है। समस्त काव्य को दो कठघरों में बन्द करने की चेष्टा मेरे विचार से कृत्रिम और साहित्यिक आकलन के लिए अनुपयोगी है।

साहित्य-समीक्षा की इस एकाङ्गी प्रवृत्ति के प्रतिक्रिया-स्वरूप समीक्षकों का एक अन्य वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष की नितांत अवहेलना कर उसे रचनाकार की अन्तर्वृत्ति और अन्तश्चेतना की स्वप्नाभिव्यक्ति मानने का पक्षपाती है। स्वप्नवादी समीक्षक-साहित्य के लिये एक असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्देश करने लगे हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी तथा श्री नगेन्द्र इसी प्रकार का समीक्षात्मक अनुशीलन करने लगे हैं। श्री नगेन्द्र मान-सिक कुण्ठा को काव्य की प्रेरक बताते हुए लिखते हैं कि यह कुण्ठा जितनी ही विवशता जन्य यानी व्यक्तिगत परिस्थिति के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन में घुमड़न पैदा करेगी और फिर यह घुमड़न उतने ही अधिक दिवा स्वप्नों की सृष्टि करेगी। नगेन्द्र जी की इस उत्पत्ति को यदि सत्य मान लिया जाय और साहित्य को दिवा-स्वप्न ही समझा जाय तो हमें साहित्य को सार्वजनिक और साँस्कृतिक वस्तु मानने के अपने भ्रम को दूर कर देना पड़ेगा।

हम कह सकते हैं कि हमारे साहित्य निर्माण में जिस प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टि-गोचर हो रही हैं, हमारी साहित्य समीक्षा पर भी उनका प्रभाव पड़ रहा है। परन्तु समीक्षा की सार्थकता बदलते हुए साहित्यिक प्रयोगों और प्रणालियों के पीछे-पीछे चलने में ही नहीं है। हमें साहित्य का नेतृत्व और नियन्त्रण भी करना होगा। स्वस्थ विचार-पद्धति, स्वस्थ-मनोविज्ञान, स्वस्थ सामाजिकता तथा सुव्यवस्थित कलात्मक अभिरुचि ही हमारी साहित्य समीक्षा

के आवश्यक गुण हो सकते हैं।

सन्तोष की बात है कि हमारी वर्तमान समीक्षा में ऊपर कही हुई अति-वादी प्रवृत्तियों के होते हुए भी ऐसे समीक्षकों की कमी नहीं है जो किसी वाद के वशवर्ती न होकर स्वतन्त्र साहित्यिक समीक्षा में प्रवृत्त हैं और हमारे काव्य साहित्य के विविध अंगों और प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करा रहे हैं। श्री प्रभाकर माचवे एक ऐसे ही समीक्षक हैं। ऐसे समीक्षकों की स्वस्थ उद्भावना हमारे साहित्य के विकास में सहायक हुई है और भविष्य में भी होगी।

साहित्य के विविध अङ्गों में से किसी एक या दो को अपनाकर विशेषता समन्वित समीक्षाएं प्रस्तुत करने वाले समीक्षक भी हिन्दी में है। अध्यापक श्री शिलीमुख हिन्दी के उपन्यास और कहानी साहित्य के विशेषज्ञ समीक्षक है। प्रगीत काव्य, नाटक तथा अन्य साहित्यांगों पर भी विश्लेषण-प्रधान पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। उदाहरणार्थ डा० जगन्नाथ प्रसाद की 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' नाम क पुस्तकहिन्दी के एक प्रमुख नाटककार के नाटकों पर प्रकाश डालती है। कुछ समीक्षक शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण कर समीक्षाएँ लिखते हैं और सैद्धान्तिक चर्चाएँ करते हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाबराय तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार, आदि इसी प्रकार के शास्त्रज्ञ समीक्षक और लेखक हैं। काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापक श्री बल्देव उपाध्याय की ऐसी ही एक पुस्तक 'भारतीय साहित्य शास्त्र' अभी-अभी प्रकाशित हुई है।

हमारी समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा-सम्पन्न और अध्ययन शील तरुण लेखकों पर अवलम्बित है जो समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं, साथ ही जो साहित्य की अपनी परम्परा और विशेषता का ज्ञान रखते हैं। सामाजिक जीवन विकास के साथ-साथ काव्य-पद्धति और काव्य-स्वरूप की अन्तरङ्ग और प्रशस्त अभिज्ञता रखने वाले दृष्टि-सम्पन्न लेखकों के हाथों ही हमारा समीक्षा-साहित्य सुरक्षित रह सकता है। सन्तोष और प्रसन्नता का विषय है कि ऐसे उदीयमान और प्रौढ़ समीक्षकों की एक अच्छी टोली हिन्दी में आज भी उपस्थित है, जो अपना उत्तरदायित्व समझती है और जो साहित्यिक साधना में संलग्न है। ये नये लेखक हिन्दी के दूरवर्ती क्षेत्रों में बिखरे हुए हैं। संयुक्त प्राँत में श्री शिवनाथ, श्री विजय-शङ्कर, बच्चनसिंह, गंगाप्रसाद पाँडेय, सत्येन्द्र, अमृतराय, और नरोत्तम नागर, मध्य प्रान्त में श्री कमला कान्त पाठक और श्री विनयमोहन शर्मा, विहार

में श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, डा० देवराज, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, श्री नलिन विलोचन शर्मा, राजस्थान में श्री कन्हैयालाल सहल, डा० सुधीन्द्र, श्री देवराज उपाध्याय, दिल्ली और पंजाब में श्री बलराज साहनी आदि तरुण और सशक्त समीक्षकों के रहते हुए हिन्दी समीक्षा भविष्य के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो सकती है।

डा० सुधीन्द्र

आधुनिक हिन्दी कविता की विभिन्न धारायें

यदि प्राचीन और नवीन कविता में विभाजन—रेखा खींचनी हो तो भारतीय इतिहास के उस घटना-विन्दु से खींचनी होगी, जिसे हम १८५७ का भारतीय विद्रोह कहते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी कविता के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। उन्होंने केवल मानसिक विलासिता से पूर्ण रीति-बद्ध कविता की जड़ीभूत भाव-धारा और विषय को विलास-मन्दिर से निकाल कर राजपथ पर लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने जीवन से बिछुड़ी हुई हिंदी कविता को जीवन का पूर्ण स्पर्श दिया और हिन्दी कविता की वह धारा चल पड़ी जो आज मानव जीवन के अङ्ग प्रत्यङ्ग को स्पर्श कर रही है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता का बहिरंग तो न बदल पाया परन्तु उसके अन्तरंग का उन्होंने पूर्ण काया-पलट कर दिया। वे शताब्दियों से चली आती हुई ब्रज वाणी का मोह तो न छोड़ सके, परन्तु उन्होंने राशि-राशि ऐसी रचनायें कीं जो जन-जीवन से प्रेरणा पाती थीं—वास्तव में उन्होंने अपनी कविता को जनता का ही कण्ठस्वर बनाया। उसमें उसके अभाव अभियोग और आशा आकाँक्षा मुखरित हुई। भारतेन्दु के सभी सहयोगी—प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी और अम्बिकादत्त व्यास सभी भारतेन्दु के सच्चे सहयोगी रहे। इनकी कविताओं में भारत की तत्कालीन नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति-परिस्थितियाँ चित्रित हुईं। भारतेन्दु ने सबसे पहले उस कविता का सूत्र-पात किया जिसे राष्ट्रीय कविता कहा जाता है। इस राष्ट्रीय कविता में उस समय की राजभक्ति की गोद में पलने वाली देशभक्ति पूर्णतया मुखरित हुई है। रोम में ब्रिटिश सेना की विजय पर 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' लिखने वाले कवि भारतेन्दु ने ही—

> आवहु सब मिलि कै रोवहु भारत भाई।
> हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

के राष्ट्रीय स्वर को अपनी वीणा पर छेड़ा और उनके सहयोगी कवि प्रतापनारायण मिश्र ने—

चाहौ जो भारत कल्यान ।
जपौ निरन्तर एक जबान ॥
हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान ।

का मन्त्रोच्चार किया और उनके दूसरे साथी 'प्रेमघन' ने—

आओ आओ अब काल पड़ा है भारी ।

का आह्वान । इस काल में इतनी अधिक सामाजिक कविताएँ लिखी गईं कि इसे सामाजिक कविता का युग कहा जा सकता है । सब कवि पूर्णतया जनता की भावना के साथ चलते थे । ये उन्हीं के सच्चे कवि थे । उन्हीं के स्तर पर उतर कर कविता लिखते थे और उसमें उन्हीं की जीवन-समस्याओं को अङ्कित करते थे । अकाल, भुखमरी, टैक्स, चन्दा, चुङ्गी और पुलिस का अत्याचार कौन-सा ऐसा विषय था जो उनकी कविता से बच सका ? अपनी कही मुकरियों में यदि वे व्यंग्य की पिचकारी छोड़ते थे तो होली और कजली में उपहास के फव्वारे । इसी युग के अन्त में हुए पण्डित श्रीधर पाठक जिन्होंने भारत देश की वन्दना देवता के रूप में की । वे भारत के सबसे बड़े गायक हुए । इस प्रकार सामाजिक और देशभक्ति की कविता का युग भारतेन्दु युग है ।

इस सामाजिक और राष्ट्रीय कविता का पूर्ण विकास हुआ द्विवेदी युग में जिसे ईसा की बीसवीं शताब्दि के प्रथम बीस वर्षों में सीमित किया जा सकता है । 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग के सूत्रधार थे और उन्होंने वही काम किया जो एक महान् युग निर्माता का है । हिन्दी कविता का दूसरा काया-पलट आचार्य द्विवेदी जी ने किया । भारतेन्दु ने कविता का अन्तरंग बदल पाया था, परन्तु द्विवेदी जी ने उसका बहिरङ्ग ही पलट दिया । अभी तक नये भावों की आत्मा ने व्रजभाषा का चोला नहीं उतारा था । द्विवेदी जी को उसे खड़ी बोली का नया शरीर दिलाने का पूर्ण श्रेय है । उन्होंने इस युग के हिन्दी कवियों पर शासन और अनुशासन किया । 'सरस्वती' के सम्पादक के सिंहासन से राजदण्ड लेकर और उन्हीं के दिशा-निर्देशन में मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, गिरधर शर्मा, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय जैसे सिद्ध प्रसिद्ध कवियों ने खड़ी बोली के जन्म और शैशव का पूरा इतिहास निर्माण किया । यही खड़ी बोली हिन्दी कविता की गङ्गोत्री है जो आगे जाकर महान् नदी का रूप धारण करती है और जिसमें अनेक छोटी-छोटी जलधारायें आकर मिलती हैं । आज जब कि खड़ी बोली की कविता का पूर्ण वैभव है, यह

कहना सरल है कि द्विवेदी युग की कविता 'इतिवृत्तात्मक' कविता थी, परन्तु
वस्तुतः इस शब्द से इस युग की कविता की अवगणना नहीं की जा सकती।
द्विवेदी युग की कविता में हिन्दी कविता की वर्णनात्मक (इतिवृत्तात्मक),
चमत्कारात्मक, उपदेशात्मक और भावात्मक सभी समस्यायें; सभी अवस्थायें
निहित हैं और ये वे मञ्जिलें हैं, जिनके बिना न 'छायावाद' की सृष्टि हो
सकती थी न 'रहस्यवाद' की और न 'प्रगतिवाद' की।

आचार्य जी ने सच्चे गुरु की भाँति अपने कवि-शिष्यों को इस कठिन
पथ पर चलना सिखाया और उन्हें इस योग्य बनाया कि वे समस्त बहिर्जगत
को अपनी कविता का विषय बना सकें। इन कवियों की लेखनी ने संसार का
कोई विषय न छोड़ा, जो चर्म-चक्षुओं से दिखाई देता है। "चींटी से लेकर
हाथी पर्यन्त पशु······और बिन्दु से सिन्धु अनन्त आकाश, अनन्त पर्वत"
सब कुछ इन कवियों की कविता का वर्ण्य हो गया। इस काल की कविता में
एक अत्यन्त उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है—इस काल के कवियों का एकमात्र
उद्देश्य था समाज हित, एकमात्र लक्ष्य था—लोक-कल्याण। भक्तियुग को
छोड़कर इतनी उदात्त और कल्याणी कविता अभी तक नहीं लिखी गई थी।
यदि इस समय की मुख्य कविता-धारा को किसी वाद के घेरे में बाँधा जाय
तो उसे 'राष्ट्रवाद' का नाम दिया जायगा।

इस 'राष्ट्रवाद' की धारा में अतीत का गौरवगान है तो वर्तमान के प्रति
'क्षोभ भी है, भविष्य की आशा किरण सी भी है और भारतीय राजनीति की
गति के साथ होने वाला स्पन्दन भी है, स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली
बाधाओं को चूर्ण करने की प्रेरणा भी है और उसके विजय के स्वर भी हैं।
भक्ति के इस गर्जन और उद्वेलन, कल्लोल और कलकल स्वर को इस काल
की कविता के विकास में भली-भाँति सुना जा सकता है। गुप्तजी की 'भारत
भारती' त्रिकाल दर्शनी आरसी है तो सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय'
अतीत का गौरवगान है। 'दीनजी' ने 'वीर पंचरत्न' में भारतीय वीरों का
चरित्र-गायन किया है। 'सनेही', लोचनप्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय
आदि ने भारतीय वीर-वीरांगनाओं को श्रद्धांजलियाँ दी हैं। माधव शुक्ल ने
भारत की वंदना में शतशः गीत गाए। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक',
'मिलन' और 'स्वप्न' में भारतीय राजनीति में होने वाले गांधीवादी आन्दो-
लनों के पूर्ण प्रभाव को अङ्कित किया है। चम्पारन, बारडोली, खेड़ा के
अभियानों की पूरी प्रतिध्वनि इस काल की कविता में है। किसान, ग्राम आदि

अपेक्षित अङ्गों की ओर इन कवियों ने अपनी दृष्टि ही नहीं फेरी है, वरन् उनकी करुण दशा को भी चित्रित किया है। इस प्रकार इस काल की राष्ट्रीय भावना सांगोपांग राष्ट्रवादी है।

द्विवेदी काल की इससे भी बड़ी देन है 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' महाकाव्यों की सृष्टि। 'साकेत' की प्रेरणा द्विवेदी जी ने की और उसका समारम्भ तथा अधिकांश सृजन भी उसी काल में हुआ। इन प्रबन्ध काव्यों में 'हरिऔध' और गुप्त जी ने प्रबन्ध-काव्य की टूटी हुई परम्परा को पुनः स्थापित किया और उसे उच्चता तक पहुँचाया भी। 'प्रियप्रवास' में नई दिशा थी, आज तक भी उसका अनुकरण न हो सका। उसमें मानववाद और मानव प्रेम की उदात्त चिन्ता धारा का पूर्ण प्रभाव है। श्रीकृष्ण और राधिका के लोकसंग्रही रूप में और उनके प्रेम के उन्नयन में। 'साकेत' में काव्यकला बहुत ऊँची कोटि में है और यदि उसे इस युग का 'रामचरित मानस' कहें तो अत्युक्ति नहीं है। उर्मिला का विरह-वर्णन तो समीक्षकों की मीमांसा का विषय ही हो गया है। इस युग में हिन्दी-कविता के भावों में वह उच्चता आ गई थी और उसकी अभिव्यंजना में तथा भाषा में वह शक्ति आ गई थी कि जिससे आगे जाकर 'प्रसाद' और 'निराला' तथा पन्त और महादेवी उस युग का निर्माण कर सके; जिसकी कविता भारतीय साहित्य में नहीं, विश्व-साहित्य में ऊँचा सिर कर सकती है। बीसवीं शताब्दी के इन दो दर्शकों के उपरांत अगले दो दशकों तक जो हिन्दी कविता की गतिविधि है वह बहुमुखी है। इस काल को 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी और 'निराला' के प्रथमाचार्यों को लेकर 'प्रसुमन काल' ही कहना चाहिए। इसी काल में श्रीगणेश हुआ उस नीति-काव्य का जिसे सच्चे अर्थ में अन्तर्भाव व्यंजक या आत्मगत (Subjective) कविता कहते हैं। वहिर्जगत के विषय में सारा इतिहास कह कर अब कवि-कल्पना उस अन्तः प्रदेश की ओर मुड़ी जिसमें असंख्य भावनाओं और अनुभूतियों का संसार निहित है। इस युग की कविता पूर्णतया आत्मगत कविता हो गई है। अन्तर्जगत् की कथा कहने में कवि को प्रकृति से आत्मभाव स्थापित करके उससे अपनी भावनाओं को रंगने के लिये क्रिया-व्यापारों की छाया लेनी पड़ी और प्रकृति के रूप व्यापारों का अङ्कन करने के लिए उसे अपनी मानवीय चेतना देनी पड़ी और इसका दार्शनिक आधार उन्हें सर्व चेतनवाद (Pantheism) में मिल गया। इस प्रकार प्रकृति में चेतना का आभास हुआ और मानवीय व्यापारों का आरोप। इस

प्रकृति के चेतनीकरण और मानवीकरण के काव्य को 'छायावाद' की संज्ञा मिली है और यह प्रवृत्ति इतनी प्रमुख है कि इस काल को 'छायावाद' काल भी कहा जाता है। इस काल के पूर्वोक्त चारों स्तम्भ भी प्रमुख छायावादी कवि हैं। इसी 'छायावाद' की पूर्णता है 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की सृष्टि।

आत्मगत कविता की दूसरी प्रवृत्ति है, हृदयवाद जिसमें हृदय की मार्मिक भावनाओं का चित्रण कवियों ने अपनी मनःस्थिति के अनुरूप किया है। इस मनःस्थिति पर छाया है, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक बाधा-बंधनों और तज्जनित कुंठाओं की। इस क्षेत्र में महादेवी सबसे आगे हैं। भारतीय दर्शन की नश्वरता की भावना ने इस कविता में निराशावाद की छाप दी है। महादेवी में यही 'वेदनावाद' या 'दुःखवाद' है, यद्यपि उन्होंने इसे अपने जीवन की विपुल सुख की प्रतिक्रिया कहा है। यह 'निराशावाद', पन्त, राजकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि की चिन्तन प्रधान कविताओं में जैसे 'परिवर्तन' और 'नूरजहाँ की कब्र पर' में भी है।

इस काल में यथार्थवाद एक तीसरी प्रवृत्ति रही है। कवि अपनी वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक पीड़ाओं, व्यथाओं, दुर्बलताओं और अभावों को इस युग में बिना किसी गोपन भाव के व्यक्त करना चाहता है, यही है यथार्थवाद। इस यथार्थवाद में नैतिक क्षेत्र में बन्धनों का परित्याग है, स्वच्छंद प्रेम की प्रवृत्ति है और है पाप भावना का पूर्ण बहिष्कार। इस यथार्थवाद की धारा ने दो दिशायें ग्रहण कीं। एक दिशा थी यथार्थ जीवन की कठोरता कुरूपता तथा प्रताड़ना से घबड़ाकर किसी उस पार के लोक में पहुँच जाने की भावना की। इस 'उस पारवाद' को 'पलायनवाद' कहा गया। दूसरी दिशा थी यथार्थ जीवन की निराशा, व्यथा और वेदना और पीड़ा को भुलाने के लिए मस्ती (उन्माद) या मद लाने वाली भावना की। इसको 'हालावाद' के नाम से देखा गया। पलायनवाद की प्रवृत्ति 'छायावाद' और रहस्यवाद के सभी कवियों में है तो 'हालावाद' 'बच्चन' की कविता का मुख्य विषय रहा। नरेन्द्र और अंचल और भगवतीचरण यथार्थवाद की मूलधारा के कवि हुए।

अब तक कवियों ने जीवन के 'स्व' और 'पर' पक्ष को लेकर अगणित छन्दों में असंख्य अनुभूतियां और अभिव्यक्तियाँ कीं, परन्तु परोक्ष सत्ता के विषय में वह मौन रहा। मैथिलीशरण गुप्त ने, जयशंकर प्रसाद ने इस युग

में फिर से परोक्ष सत्ता की ओर देगा। भक्तियुग की सगुण और निर्गुण भक्ति की भावना इस बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में नहीं पनप सकती थी। उसका बौद्धीकरण हुआ 'मानववाद' में। इस भावधारा के प्रवर्तक रवीन्द्रनाथ को कहा जाना चाहिए। जिन्होंने पुजारी को पूजा पाठ छोड़कर कर्मयोगी बनने का आदेश दिया है। गुप्तजी की 'बार बार तू आया' और 'स्वयमागत' तथा रामनरेश त्रिपाठी की 'अन्वेषण' कविता इसी परम्परा की है परन्तु परोक्ष सत्ता के प्रति भावना का महत्वपूर्ण पर्यवसान हुआ रहस्यवाद की भावना में। भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद से अनुप्राणित कबीर जायसी का मर्मवाद इस नूतन रहस्यवाद के रूप में प्रत्यावर्तित हुआ। रवीन्द्रनाथ इस धारा के भी प्रेरक प्रवर्तक माने जायेंगे। हिन्दी में रहस्यवादी भावना का सूत्रपात किया था द्विवेदी युग के मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास आदि कवियों ने परन्तु इनकी प्रतिष्ठा की प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने। प्रसाद और निराला ने दार्शनिक ढंग का 'रहस्यवाद' दिया है यद्यपि वे आँसू में सूफी ढङ्ग के रहस्यवादी हो गए हैं. उधर गुप्त जी उपासक रहस्यवाद के कवि रहे। पन्त और रामकुमार वर्मा प्रकृतिगत रहस्यवाद के कवि हुए और महादेवी प्रेम परक रहस्यवाद की साधिका हुईं। महादेवी का रहस्यवाद वस्तुतः आज के रहस्यवाद की मूलधारा है। रहस्यवाद की भावना चिन्तन की दृष्टि से चिरन्तन है किन्तु प्रयोग की दृष्टि से अर्वाचीन।

क्रिया और प्रतिक्रिया के सनातन नियम के अनुसार जब कवि छायावाद और रहस्यवाद के भाव लोकों में आत्मगत और आत्म-केन्द्रित होने की स्थिति से ऊब उठा तो एक बार फिर जन-जीवन ने उसे अपनी ओर आकृष्ट किया। संसार युद्ध के कोलाहल से पूर्ण और समाज हाहाकार, वेदना और व्यथा से पीड़ित था और कवि को अपनी कल्पना से कहना पड़ा—

> व्योम कुञ्जो की परी अयि कल्पने !
> भूमि को निज स्वर्ग तक ललचा नहीं,
> उड़ न सकते हम तुम्हारी·········
> शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।

इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक जगत् की विभीषिकाओं से त्रस्त होकर कवि जनतावादी गायन करने के लिए प्रेरित हुआ। समाज में शोषण-पीड़न और उत्पीड़न को वह नहीं सह सका और निःशेष करने के लिए खड्गहस्त हुआ। 'पाशववाद' (Fasciem) के विरोध में वह जनता का

नायक-उन्नायक हुआ। कवि सदैव जन-जीवन की आवश्यकता को अर्पित नहीं कर सकता। वस्तु जगत् की माँग उसे अपना कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरणा देती रहती है। कवि को कवि-कर्त्तव्य के पालन के लिए प्रगतिशील ही रहना पड़ता है। जीवन के स्पर्श के बिना काव्य निरा विलास ही तो है परन्तु इस युग की प्रगति के लिए नये मूल्य निर्धारित हुए। 'प्रगतिशील लेखक सङ्घ' स्थापित हुए। मार्क्सवाद की विचार धारा ही उसका एकमात्र आधार रही। उसके कीटाणु परमाणु के बिना किसी भी प्रगतिशील भावधारा को वे प्रगतिवादी होने का श्रेय देना नहीं चाहते। उस कसौटी पर न तो 'नवीन' प्रगतिवादी हैं और न 'दिनकर'। 'लालरूस' और 'चीन' की जय पराजय पर हर्ष और रुदन करने वाले किन्तु भारत राष्ट्र की विराट हलचल की ओर से आँख मूँद लेने वाले, आजाद हिन्द फौज के निर्माता सुभाषचन्द्र बोस को विभीषण की उपाधि देने वाले तथा लज्जा को भी लज्जित करने वाले यथार्थवाद (नग्नवाद) का अङ्कन करने वाले प्रगतिवादी ही प्रगतिवादी हैं। इस प्रगतिवाद के शास्त्र के अनुसार 'प्रगतिवादी' होना एक वर्ग विशेष का सदस्य बनना है परन्तु 'प्रगतिशील' बनना किसी मत विशेष से गठबन्धन नहीं है। वह तो कवि का शाश्वत पद ही है। आज के 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशीलता' का विवेकशील कवियों और समालोचकों का यही विश्लेषण है।

श्री हंसकुमार तिवारी

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ

साहित्य के लिए वर्तमान युग को the age of intrerogation अथवा जिज्ञासा का युग कहा जा सकता है। आज साहित्य की अनेक प्रेरणाएँ हैं; उसके मुँह में हैं बहुत-सी समस्याएँ, बहुत से प्रश्न और मर्मस्थल में एक प्रश्न-विराम का चिह्न। चूँकि इन समस्याओं का समाधान अभी दूर और अनिश्चित है; इसलिए साहित्य का लक्ष्य भी सन्दिग्ध है, उसकी मर्मवाणी कुछ बेसुरी बजती है। इस समय साहित्य की गति उद्दाम है, उसमें मानव-मन की प्रवृत्तियों का अनन्त आवेग तरंगित है और साहित्य की धारा संयम के कूलों से उबलकर अज्ञात दिशा की ओर वेग से बढ़ती जा रही है। फलतः सनातन भाव-धारा के उपासक चिन्ता व्यग्र हो उठे हैं कि इस उन्मत्त वन्या में साहित्य के सनातन उद्देश्य की नौका डूबकर ही रहेगी।

आज के इतिहास की जैसी रूप-रेखा है, वह स्वाभाविक है। साहित्य से देश और समाज का सघन सम्पर्क है। यह सम्पर्क कभी तो अत्यधिक स्पष्ट है, कभी अप्रत्यक्ष भी; किन्तु साहित्य देश और समाज की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता; इसलिए कि जो साहित्य का उद्गम-स्थल है; अर्थात्—मानव का अन्तर्जगत, उस पर बाह्य जगत प्रक्षेश से तीरारे एक सुन्दर, सत्य और कल्याणमय जगत् की सृष्टि होती है। आनन्द की सृष्टि के लिए कल्पना वांछनीय, बल्कि अनिवार्य है; किन्तु साहित्य का उद्देश्य आनन्द के अतिरिक्त भी कुछ है। इसीलिए साहित्य में वास्तविकता का बहुत बड़ा प्रयोजन है। मर्मस्पर्शिता साहित्य का एक आवश्यक गुण है, इसी में निहित है साहित्य का व्यापक प्रभाव। मर्मस्पर्शिता के लिए साहित्य को दैनिक जीवन, जीवन की समस्याओं के आगे भीख माँगनी ही पड़ेगी। जो साहित्य जीवन के संस्पर्श से दूर है, और केवल कल्पना और विलास ही जिसका लक्ष्य है, उसका प्रभाव हम पर कुछ नहीं पड़ सकता। इसके अतिरिक्त प्रगति भी साहित्य का लक्ष्य है। साहित्य के इस धर्म का निर्वाह भी वास्तविकता से दूर रहने पर सम्भव नहीं। साहित्य की धारा मन्दाकिनी की तरह सदा स्वच्छ और गति-

शील होनी चाहिए; अन्यथा न तो साहित्य का समादर होगा, न आधुनिक साहित्य में उसकी गिनती होगी।

हमारे आज के साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह हमारे समाज, जीवन और अन्तर्वृत्तियों के अनुरूप ही विकसित हो, प्रगतिशील हो। समाज ही हमारा प्रथम और प्रधान लक्ष्य है, इसलिए प्रगतिशील साहित्य का प्रधान उद्देश्य ऐसी प्रेरणा की सृष्टि होनी चाहिये जिससे पारस्परिक मैत्री, सद्भावना, तथा प्रीति की शृङ्खला दृढ़ हो। जिससे हम एक दूसरे के सुख-दुःख, आशाआकांक्षा को अपनी तरह सोच सकें। युग आज साहित्य से इस प्रेरणा की माँग करता है।

हाँ, तो हम जरा विषय से दूर चले गये। हमारा अभिप्राय इतना ही है कि जो वस्तु जीवन में नहीं है, साहित्य से उसकी आशा नहीं की जा सकती। साहित्य की कोई खास सीमा-रेखा या विशिष्ट ध्रुव रूप है, ऐसा हम नहीं मानते। पञ्चवटी की कुटिया में सीता की तरह एक उल्लंघ्य रेखा में साहित्य को बाँध देने से वह बँधा नहीं रह सकता। वह तो जीवन-रूपी राम का छाया-सा अनुगामी होगा। मनुष्य सुख में, दुःख में, भावों के आवेग से गाता है। प्राणों का यही सङ्गीत साहित्य है; किन्तु इस तरह का कोई बन्धन कि यही गाओ, कदापि उचित नहीं। जीवन स्थिर नहीं, वह निरन्तर अपना रूप परिवर्तित कर रहा है, साहित्य का प्रकाश उन्हीं रूपों में होता है, उसी रस से साहित्य संजीवित होता है। साहित्य की सनातन लीक साहित्य को निष्प्राण बना देती है, उसे जीवन से कन्धा मिलाकर चलना ही होगा।

हमारा आज का जीवन क्या है! भाग्य के निष्ठुर परिहास की एक कारुणिक छवि। किसी के भी मन में आशा-भरोसा, तृप्तिसन्तोष और दृढ़ता नहीं। एक-पर-एक आघात हो रहा है और मनुष्य आगे बढ़ता जा रहा है। आधुनिक यन्त्र-सभ्यता नित नयी-नयी आवश्यकताओं के आविष्कार द्वारा मानव जीवन पर दुस्सह बोझ लादती जा रही है। मनुष्यों का जीवन अभावों से भरता जा रहा है और उसके मन में एक असन्तोष, एक अवसाद की काली घटा दिन-प्रति-दिन घनीभूत होती जा रही है। इसीलिये आज साहित्य को हम भाग्य-विडम्बित जीवन की एक कहानी के रूप में पा रहे हैं।

पिछले महायुद्ध ने जीवन धारा में बड़ी विशृङ्खलता की सृष्टि कर दी है। हमारी राष्ट्रनीति, समाजनीति और धर्मनीति, सब कुछ में युगान्तर उपस्थित हो गया है। हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था में जो नीति काम कर रही थी,

उससे अब हमें सन्तोष नहीं। हमें अब नये सिरे से अपने समाज को गढ़ना है। सनातन परिपाटी की आड़ में अब हम होने वाले अन्यायों को सहन नहीं कर सकते। हम अब उसके प्रति विद्रोह करेंगे। नाना कारणों से अपने वर्तमान से लोग असन्तुष्ट हो उठे हैं। असन्तोष का यह लक्षण जीवन के सभी व्यापारों में स्पष्ट हो उठा है और विश्व के मर्मस्थल में विद्रोह की यह भावना क्रमशः प्रबल होती जा रही है। साहित्य, विश्व-वीणा पर बजने वाले स्वर की प्रतिध्वनि ही तो है, फलतः विश्वसाहित्य में हम ऐसे ही एक व्यापक तथा असन्तोष का, विद्रोह का स्वर पाते हैं।

विद्रोह, साहित्य के लिए कोई नयी बात नहीं। वह सर्वदा सनातन स्रोत के खिलाफ बगावत करके अपने लिए नयी दिशा, नया मार्ग बनाता रहा है। अपने सनातन धर्म के अनुसार फिर उसने सनातन आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह का उपक्रम किया है। यही क्रम मानव-समाज का भी रहा है। ग्रीक पुराण में एक कहानी है कि राजा क्रोनस के विरुद्ध उसके पुत्र जीयस ने विद्रोह किया था और अन्त में अपने पिता को शिकस्त देकर उसने विश्व में नयी शासन-व्यवस्था कायम की थी। यह फकत एक कहानी ही नहीं, बल्कि चिरन्तन सत्य का एक प्रतीक है। इससे विश्व के विकास के अखण्ड क्रम का परिचय मिलता है। अपूर्ण से पूर्ण, क्षुद्र से बृहत्, कुत्सित से सुन्दर, संकीर्ण से विस्तृत ही प्रगति है और इसी क्रम से विश्व का विकास हो रहा है। मानव की चिरन्तन आकांक्षा उपनिषद् की वाणी में—असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मा अमृतङ्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अति आधुनिक साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ परिस्फुट हैं, उनके मूल में भी वही सत्य निहित है। सनातन आदर्शों के खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा करना ही इसका लक्ष्य नहीं, अपितु नव-निर्माण का महदुद्देश्य भी इसमें है, परन्तु इसका विकसित रूप अभी हमारे सामने नहीं आया है। केवल इङ्गित या आभास से ही उसके भविष्य के रूप का सम्पूर्ण परिचय दे सकना असम्भव सा है। आज की जो समस्याएँ हैं, आज की जो पारिपार्श्विक अवस्थाएँ हैं, आज के जीवन का जो रूप है, इनके अनुसार साहित्य का पूर्ण स्वरूप क्या होगा, इसका कुछ ठीक नहीं। साहित्य अभी अपने लक्ष्य के प्रशस्त राजपथ पर पहुँच नहीं सका है; किन्तु मार्ग-निर्वाचन के इस प्रयास को हम यदि निरर्थक और सार-हीन कहें, तो शायद युक्ति-सङ्गत न होगा।

अति आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों के पीछे मूलतः एक वैज्ञानिक

मनोवृत्ति काम करती है। साहित्य और विज्ञान, दोनों ही मानव के प्रतिनिधि रूप में विश्वजीवन का समाधान लेकर चले हैं। साहित्य हृदय का उत्कर्ष है और विज्ञान मस्तिष्क का चमत्कार काव्य और विज्ञान अश्विनीकुमार-द्वय हैं। विज्ञान का आधार भी जगत् है—जड़ जगत्, जीव-जगत्; किन्तु वैज्ञानिक युक्ति और तर्क द्वारा जगत् का विश्लेषण करता है और साहित्यकार हृदय की अनुभूति-द्वारा कल्पना के सहारे। एक पृथ्वी की वस्तु को अणु अणु में विभाजित कर उसका विचार करता है; दूसरे की प्रेरणा मूलतः सृष्टि की प्रेरणा होती है। सत्य दोनों का लक्ष्य-वस्तु है; किन्तु विज्ञान का स्थूल सत्य वस्तु-जगत् में है और साहित्य का अन्तर्जगत् के रस-स्निग्ध भाव में। कवि कीट्स की वाणी में—जो सत्य है, वही सुन्दर है; जो सुन्दर है; वही सत्य है। फलतः धर्म में साहित्य और विज्ञान में मूलतः कोई पार्थक्य नहीं। पृथकता है उसकी सत्य-सन्धान की प्रणाली में। वैज्ञानिक प्रकृति की कार्यावली का नीतिकार है और साहित्यकार प्रकृति का भावुक सन्तान, विश्व वाटिका सौन्दर्य का मालाकार है। कोलरिज ने कहा है—'पद्य का उल्टा गद्य नहीं, बल्कि विज्ञान है, पंचतन्त्र के 'एकोदर पृथक् ग्रीव' सारस की तरह विज्ञान और साहित्य की दो शाखाएँ एक ही मूल के अङ्ग हैं। हाँ, इन दोनों के सामंजस्य में एक संयम चाहिए।

विज्ञान की इस विषय में दीनता है कि वह अपने साहित्य को नहीं रख सकता; साहित्य के रस-सिद्ध आश्रम में विज्ञान को अनायास स्थान मिल जाता है और वर्तमान युग के उदार साहित्य ने विज्ञान की सहयोगिता से साहित्य को सत्य के अत्यधिक निकट पहुँचाया है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति से ही साहित्य में वस्तुतान्त्रिकता की प्रतिष्ठा होती है। साहित्य में वस्तुतन्त्र की साधना पाश्चात्य देशों में ही प्रारम्भ हुई। वस्तुतन्त्र ने कल्पना के उस कुहक जाल के प्रति विद्रोह किया, जो रोमाण्टिक युग की खास बात थी! साहित्य के इस वाद ने लोगों को वह आँखें दीं, जिससे वस्तुओं के काल्पनिक स्वरूप की ही पूजा न हो, प्रत्युत् उसके यथावत् रूप से हमारा परिचय हो। इसके बाद फ्रांस के विप्लव ने प्रकृतिवाद की अवतारणा की, जिसके अन्यतम उपासक मोपासाँ और जोला आदि ने बताया कि, कोई भी वास्तविक घटना कवित्व से खाली नहीं, अगर कवि उसका उचित प्रयोग करना जानता हो।'

इन दोनों वादों की अवतारणा से जिस एक विशेष प्रवृत्ति ने प्रकाश पाया, वह थी मानव-मन के विश्लेषण की प्रवृत्ति। विज्ञान पदार्थों का विश्ले-

पण करता है और साहित्य की यह क्रीड़ा-भूमि मन है और साहित्य मानसिक भावनाओं का विश्लेषण करता है। जोला ने कहा है—'साहित्य में मानव के मॉस और मस्तिष्क का विश्लेषण करना है।' मादाम बोवरी के लेखक प्रसिद्ध वस्तु तान्त्रिक गुस्तव फ्लुवेयर ने लिखा है—'जीवन को जीवन की तरह आँको, तुम्हारा उद्देश्य स्वयं स्पष्ट हो उठेगा। अगर तुम्हें सूर्योदय का चित्र उपस्थित करना है, तो उसकी तात्त्विक व्याख्या न करो, केवल उसका यथार्थ चित्र ही उपस्थित कर दो। अन्य वस्तुएँ स्वयं पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ जायँगी। कला की प्रत्येक सृष्टि में एक स्वाभाविक सत्य निष्ठा होती है। किन्तु तुम प्रकृति पर अपने कानून न लगाओ।'

इन वादों के विकास में संसार के सभी गण्यमान्य साहित्यिकों ने हाथ बटाया। विश्व कवि वाल्ट ह्विटमैन ने कहा है—'मैं आदि से अन्त तक शरीर विज्ञान गाता हूँ। मैं अपने शरीर पर कविता करूँगा, अपनी अपूर्णता के गीत गाऊँगा, ताकि मैं पूर्णता और आत्मा तक पहुँच सकूँ।'

कवि ब्राउनिङ्ग ने भी एक स्थान पर लिखा है—'मांस (देह) आत्मा को जितना प्रभावित करता है, आत्मा उतना देह को नहीं।

यही नहीं, ऋषि टाल्सटाय और रवीन्द्रनाथ-जैसे आदर्श कलाकारों ने भी अपने को इस विश्लेषण से बचा न पाया। साहित्य में ऊँचे आदर्शों के प्रतिष्ठाता टाल्सटाय, कला पर जिनकी राय थी कि 'कला समभाव के प्रचार द्वारा संसार को एक करने का साधन है'।—ने भी अन्ना जैसे चरित्र की सृष्टि की। अन्ना पर फिलिप्स ने लिखा है—'हेलेन के समय से अब तक शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से ऐसी नारी नहीं स्रष्ट हुई।' अन्ना वासना की वेदी पर नारीत्व के चरम और गौरव मातृत्व को बलि देती है; किन्तु यह उसके मन का पक्ष है; इसलिए कलाकार की महत्ता अक्षुण्ण रहती है। एडमण्ड गोसे ने इसीलिए कहा है—'यह अस्वीकार करना कलाकार के प्रति घोर अन्याय करना होगा कि वे सत्य और जीवन के अनुसन्धानकर्ता हैं और कभी कभी उन्होंने दोनों—सत्य और जीवन—को लिया है।'

रवीन्द्रनाथ की राय थी—'मनुष्य केवल शरीर-तत्व, जीव-तत्व, समाज तत्व या मनस्तत्व ही नहीं, वह और भी कुछ है, हमें यह न भूलना चाहिए।' किन्तु, साहित्य के इस नवीनवाद की वेदी पर उन्होंने भी साधना के फूल चढ़ाये और भारतीय साहित्य में इसकी स्थापना के स्तम्भ भी बने।

अति आधुनिक साहित्य की मूल प्रवृत्तियों में निर्भीक, एकान्त सत्यनिष्ठा

प्रमुख है। यह काँच को कञ्चन, स्वप्न को सत्य मान लेने वाली कल्पना के जादू को मान लेने पर तैयार नहीं; इसीलिए प्राचीन सत्यनिष्ठा, संस्कार और मोह पर इसमें सम्पूर्ण अविश्वास है। आधुनिक साहित्य ने सत्य उसी को माना है, जो प्रामाणिक है, जो स्पष्ट इन्द्रियग्राह्य है और युक्ति द्वारा जो सर्वसाधारण को इन्द्रियग्राह्य हो। प्राचीन साहित्यशास्त्र ने सत्य की प्रतिष्ठा के लिए कल्पना को ही अलादीन का दीपक मान लिया था। उसके अनुसार वास्तव-जगत् कवि को मनोभूमि से अधिक नहीं था; परन्तु प्रस्तुत विज्ञान ने बताया, कि सत्य कल्पना से अधिक विचित्र होता है। आधुनिक साहित्य में सत्य, शिव और सुन्दर की अलग-अलग उपासना नहीं होती—उपासना होती है केवल सत्य की। जो सत्य है, वह सुन्दर और यथार्थ में सत्य—सुन्दर है, उससे विश्व का अकल्याण हो नहीं सकता। इसीलिए कल्पना की देवी को साहित्य के सिंहासन पर अधिष्ठित करके उसकी पूजा करने को आज के साहित्यकार प्रस्तुत नहीं। वे आदर्शों की पुरानी इमारतों को खोद कर उसकी नींव को देखना और नये सिरे से उसकी रचना करना चाहते हैं।

साहित्य का कारबार मानव-मन से चलता है। आज विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य का मन भी विश्लेषण की वस्तु बन गया है। ईश्वर की सत्ता सृष्टि में व्यक्त होती है और मनुष्य का मन उसके कार्यों में व्यक्त होता है। जेरोम के० जेराम ने कहा है—'विधाता को जानने के लिए उसके विधानों के सौन्दर्य को जानना अनिवार्य है।' इसी तरह साहित्य में मन तथा, उसकी वृत्तियों की प्रतिष्ठा के लिए मानव के कार्यों का विश्लेषण जरूरी है। पहले पहले मनुष्यों के मन, प्राण, बुद्धि, चित्त आदि के लिए रहस्यों का दैवी-व्यापार समझा जाता था; लेकिन शरीर-विज्ञान के प्रमुख शेरिङ्गटन ने बताया कि—सृष्टि में, ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका विश्लेषण केमिस्ट्री और फिजिक्स से न किया जा सके। इसलिए अब मानव की प्रत्येक मनोवृत्ति का उत्सव ढूँढ़ा जा रहा है—उसके उद्गम के मूल कारणों पर आलोकपात किया जा रहा है, जिससे साहित्य में युगान्त की सूचना मिल रही है, जिसे सनातन पन्थी साहित्यिक अनाचार या नास्तिकता की व्याख्या देते हैं।

यह साहित्य मानवधर्म की एक नई दिशा को भी प्रकाश में लाया है। पहले साहित्य में मानवता की आधारवस्तु थी केवल कुछ सूक्ष्म कोमल-वृत्तियाँ; किन्तु आधुनिक साहित्य मानवता के किसी भी अंश को बाद नहीं देता। जो स्थूल प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ मानव-जीवन के प्रधान उपादान हैं, आधुनिक

साहित्य पुङ्खानुपुङ्ख रूप से उन्हीं का प्रतिपादन करता है। फ्रायड, अडलर, युंग आदि मनस्तात्विकों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि धर्म, विज्ञान और कला की मूल प्रवृत्ति मनुष्य की यौन प्रवृत्ति है और आधुनिक साहित्य का यही एक प्रधान विषय बन बैठा है। फलतः मध्ययुग में लोगों के लिए धर्म जिस प्रकार प्रधान बात थी, आज उसी प्रकार यौन-प्रवृत्ति मनुष्यों के लिए मुख्य बात हो गई है।

इन बातों के अतिरिक्त साहित्य के मर्मस्थल से कुछ समस्याओं की ध्वनि निकलती है, जो विगत महासमर ने जीवन और समाज के सामने पेश की। समस्या समाधान साहित्य का चिरकालिक उद्देश्य है। भगीरथ ने अपनी कठोर तपस्या से मन्दाकिनी को पृथ्वी पर ला छोड़ा और यह स्वर्गीय धारा कितने कानन-प्रान्तर, ऊबड़-खाबड़, समतल-मरु होकर निरन्तर आगे बढ़ती रही और उससे लोक-कल्याण होता रहा। साहित्य ने भी ऐसे अनेक उतार-चढ़ाव देखे और देखेगा। इसने व्यक्ति स्वातन्त्र्य की वकालत की, पूँजी और श्रम की समस्या का प्रचार किया, श्रेणी-संघर्ष के प्रश्न की व्याख्या की। एलिजाबेथ के राज्यकाल में इंगलैंड में पुराने भाव और चिन्ता-धारा के लिए ऐसी ही बगावत खड़ी हुई थी और 'नवीन स्वर्ग, नूतन पृथ्वी' का आदर्श लोगों ने लाना चाहा था। उस समय भी मार्लो-जैसे विद्रोहियों ने ही नवीन आदर्श की स्थापना की थी; अतएव यह सत्य है कि हमारी साहित्यिक विशृङ्खलता सदा कायम न रहेगी। पतझड़ के बाद बसंत का श्री सौन्दर्य फिर इस क्षेत्र को शोभित और मुखरित कर देगा।

साहित्य, राजनीति या समाज, सब की क्रान्ति के समय इसी तरह की उच्छृङ्खलता होती है, जिससे भविष्य की सम्पूर्ण रूप-रेखा का अनुभव नहीं किया जा सकता और सच कहा जाय, तो ऐसी दशा में उसमें भ्रान्त धारणाएँ भी स्थान पाती हैं। इसका मूल कारण अनियन्त्रण, असंयम होता है। संयत प्रवृत्ति पीछे आती है। देश में जब क्रान्ति होती है, तो कोई शक्तिशाली नेता उसे अपने नियन्त्रण में लाकर देश में सुख-शान्ति की स्थापना करता है। विश्व में जब दुर्नीति और अनियम का प्राबल्य होता है, तो अवतार होते हैं। साहित्य की भाव-धारा में नवीनता की अवतारणा के लिए जब प्रबल क्रान्ति उठती है, तो उसके पीछे कोई दार्शनिक मतवाद का काम करता है। जब साहित्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समस्या उठी, तो नित्शे का दर्शन जीवन्त हो उठा। रोमाण्टिक युग में फिक्ते, शेलिङ्ग और हेगेल के दर्शन का खूब

प्रभाव पड़ा। साम्यवाद को कैंट के दर्शन ने गतिशील बनाया। अति आधुनिक साहित्य की धारा को ऐसे ही एक दार्शनिक की आवश्यकता है, जिसकी छत्रछाया में उसे अपने वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो।

वर्तमान युग प्रेरणाओं के प्रयोग का युग है। इसीलिए इसमें त्रुटि है, अनियम है, असंयम है। जब इसकी गवेषणा खत्म हो जायगी और निष्कर्ष हो जायगा, तो साहित्य की गङ्गा आश्विन की धारा-सी संयत और निर्मल हो जायगी। यही विद्रोह फिर शृङ्खला हो जायगी। इसीलिए हमें सनातन परिपाटी के ध्वंस का रोना नहीं रोना चाहिए, हमें सतर्क होना चाहिए, भावी साहित्य की संयत रूप-रेखा के लिए। कोई भी महत् सृष्टि इसी तरह होती है और उसमें ऐसे ही समय लगता है। नवीन-साहित्य के लिए हमारे यहाँ समालोचना साहित्य की कमी न होनी चाहिए। साहित्यिक आन्दोलन के दिशानिर्देश के लिए अच्छे समालोचकों का आविर्भाव होना भी आवश्यक है। समालोचना साहित्य की भाव धारा की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ी सहायक होती है।

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

हिन्दी गीत-काव्य : नये प्रयोग

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक विकास में 'गीति-काव्य' का अत्यन्त प्रमुख स्थान है। उसकी समस्त प्राचीन और अर्वाचीन कविताएँ प्रायः गेयात्मक ही मिलती हैं। इस प्रकार की गेयात्मक कविताओं को 'पद' के नाम से पुकारा जाता था। 'गीति काव्य' का इतिहास वेदों की भाँति प्राचीन है। वेदों की रचना भी तो संगीत के आधार पर हुई है। महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' सुन्दर 'गीति-काव्य' का उदाहरण है।

वीर-गाथा काल में ऐसी रचनाएँ कम हुईं। भक्ति-काल के द्वारा गीति-काव्य का प्रस्फुटन हुआ, जिसको कबीर, तुलसी एवं मीरा आदि कवियों की वाणी का प्रसाद मिला। इन महाकवियों के पदों ने गीति-काव्य में नवीन चेतना, अनुभूति एवं माधुर्य का संचार किया। भावावेश के साथ-साथ संगीत तथा स्वर की समीचीन साधना का नाम ही 'गीति-काव्य' है। भक्ति-काल से 'गीति-काव्य' को पूर्ण आश्रय मिला। उसके बाद रीति काल में भी थोड़ी गीति रचनाएँ अवश्य हुईं; परन्तु तत्कालीन कवियों ने अपनी प्रतिभा योग्यता एवं कला चातुरी का प्रयोग इस दिशा में न करके लक्षण-काव्यों के लेखन में ही किया।

गीति-काव्य की रचना संगीत के उच्च आदर्श पर ही होती है। इसका प्रमाण हमें कबीर के रहस्यवादी सैद्धान्तिक पदों तथा तुलसी, सूर और मीरा की रचनाओं में मिलता है। उनके गीत आज संगीत संसार में आदर की वस्तु हैं। सारांशतः जो 'गीति-काव्य' का कल्पतरु उक्त महाकवियों की वाणी का रस पाकर उगा था, वह आधुनिक काल में पुष्प-छाया समन्वित एक विशाल काव्य कानन का रूप धारण कर गया है। आज मुझे आधुनिक काल में लिखे गये 'गीति-काव्य' की चर्चा ही विशेष रूप से इस लेख में करनी है।

इस काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु बाबू की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने जिस सफलता से गद्य ग्रन्थ लिखे, उसी तन्म-

यता से काव्य रचना भी की। भारतेन्दु का जन्म उस संक्रांतिकाल में हुआ था जब वे उजड़े हुए भारत की गोद में पलकर दुःख दारिद्र्य, त्रास, शंका, संघर्ष का ताण्डव नृत्य देख रहे थे। हिन्दी कविता को कँकरीले मार्ग से निकाल कर समतल मैदान में निःशंक प्रवाहित करने का श्रेय भी भारतेन्दु बाबू को है। उन्होंने कविता की ऊबड़-खाबड़ भूमि को पीट-पाटकर बहुत समतल कर दिया और साहित्य की स्वर-वाहिनी शिराओं को लचकीली बनाकर कविता के कण्ठ से समय की आवाज निकाली। भारतेन्दु बाबू के द्वारा गीति काव्य की रचना को उचित प्रोत्साहन नहीं मिला। गीति काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि बाह्य जगत की अनुभूतियों को अपने अन्तर में लीन करके उनमें अपने सुख दुख की मार्मिक अभिव्यक्ति ही ध्वनित करता है। इस कसौटी पर भारतेन्दु की रचनाएँ खरी नहीं उतरीं। उनकी रचनाओं में बाह्य जगत की अभिव्यञ्जना अधिक मिलती है। भारतेन्दुकालीन कवियों ने प्रायः ऐसे ही गीत लिखे।

भारतेन्दु के बाद 'प्रसाद'जी ने अपनी अनुपम कृति लहर, आँसू, झरना और कामायनी में गीति काव्य को और भी विकसित किया और उसे एक नई चेतना, प्रेरणा और गति दी। वास्तव में आधुनिक काल की कविता में गीति काव्य का विकास 'प्रसाद' जी की ही रचनाओं से हुआ। 'प्रसाद' जी प्रमुखतः अनुभूति के कवि थे। उनकी रचनाओं में साँसारिक वाह्य उपकरणों की अपेक्षा आन्तरिक मनोभावनाओं का चित्रण अधिक हुआ है। यही नहीं, 'प्रसाद' जी ने फुटकर गीत ही नहीं लिखे, प्रत्युत मानव प्रवृत्तियों के विश्लेषक महाकाव्य 'कामायनी' में भी उन्होंने गीत दिये हैं, वे गीति काव्य की अनुपम निधि हैं। उनकी गीति प्रतिभा का मौलिक विकास उनके नाटकों में लिखे गए गीतों में देखने को मिलता है। प्रसाद जी ने जहाँ गीतों को साहित्यिक रूप दिया वहाँ नाटकीय गीतों को भी समुन्नत किया। 'प्रसाद' के गीतों से सङ्गीत की सोई भावना पुनः जागी और उसने गीति-काव्य को परम्परागत पद शैली और व्रजभाषा की दल-दल से निकाल कर उन्मुक्त और विस्तृत मैदान में ला अधिष्ठित किया।

अपनी रचनाओं में रहस्यवाद के द्वारा 'प्रेम की पीर' जताने का सर्वप्रथम कार्य 'प्रसाद' जी ने ही किया और यह 'पीर' उनके इन गीतों में अधिक सफलता और सरसता लेकर व्यक्त हुई। उनके 'आँसू में एक नहीं अनेक पद ऐसे हैं। कवि अनन्त की चाह में विरह-वेदना को असह्य जान अपनी मार्मिक

व्यथा को यों प्रकट करता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥
\+ \+ \+ \+
शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये॥

'लहर' में उन्होंने भावुक चित्रकार की भाति प्रकृति की रङ्ग बिरङ्गी वेष भूषा में तन्मय होकर उसका कितना मर्मिक चित्रण किया है—

जहाँ साँस सी जीवन छाया
ढाले अपनी कोमल काया
नील-नयन से ढुलकाती हो
तारों की पाँति घनी रे!

उनके एक एक शब्द में सङ्गीत है, प्राण है और है अपने आराध्य पर मर मिटने की प्रबल साध। अन्त में प्रकृति के अतुल सौन्दर्य में निमग्न होकर प्यार लुटाते हुए वे कहते हैं—

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है आर-पार
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार
वह चित्र रङ्ग का ले बहार
जिसमें हैं केवल प्यार-प्यार!

जैसा कि मैं ऊपर की पंक्तियो में लिख चुका हूँ कि अपने मानव-प्रवृत्ति के विश्लेपक महाकाव्य 'कामानयी' मे भी 'प्रसाद' जी ने गीत देकर 'गीत-काव्य' का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। उनके निम्न गीत में कल्पना, भावना और अनुभूति का कितना विचित्र सम्मिश्रण हुआ है, यह देखिये—

तुमुल कोलाहल कलह मे,

है। उर्मिला अपने प्रियतम की झाँकी भर पाने के लिए लालायित है। वह कहती है—

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो,
क्या कुछ देर लगाऊँ?
मैं अपने को आप मिटाकर,
जाकर उनको लाऊँ!
ऊषा-सी आई थी जग में,
सन्ध्या-सी क्या जाऊँ?
श्रांत पवन-से वे आवें,
मैं सुरभि-समान समाऊँ!

अपनी पीड़ा को असह्य समझ वसन्त आने पर उसका उपालम्भ देना कितना मार्मिक है। उसमें सुकुमार हृदय की कितनी व्यथा एवं हूक छिपी हुई है—वह अनुभव-जन्य है—वह पीड़ा से आकुल होकर प्रार्थना करती है—

मुझे फूल मत मारो!
मैं अबला बाला वियोगिनी,
कुछ तो दया विचारो!

उर्मिला के इन गीतों में उसके विरही मानस के क्षणिक उन्माद और शान्ति, विषाद और हर्ष का सुन्दर आरोह-अवरोह हुआ है।

'यशोधरा' में सिद्धार्थ के बिना कुछ कहे चुप-चाप चले जाने पर 'यशोधरा' के स्त्री हृदय से जो करुण रागिनी निकली थी वह कितनी मार्मिक है—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते!
कह, तो क्या मुझको वे अपनी
पथ-बाधा ही पाते?

अन्त में उसकी शुभकामना है—

जायें सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते?

'निराली' जी हिन्दी-कविता में एक क्रान्ति-विधायक के रूप में आये।

* * *

हिन्दी में जिन 'वर्मात्रय' का नाम रहस्यवादी कवियों में लिया जाता है, उनमें सुश्री महादेवी वर्मा के अतिरिक्त श्री रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा हैं। श्री रामकुमार वर्मा के गीतों में रूप-सौंदर्य की कल्पना पर्याप्त मात्रा में है। उनके अधिकाँश गीतों में प्रकृति-वर्णन की ही प्रधानता है। भावों की अभिनयात्मक व्यंजना के कारण उनके गीत और भी मनोहर होगए हैं। उनके—

'ये गजरे तारों वाले !'

और

'आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय !'

शीर्षक गीत हिन्दी गीति-काव्य के गौरव हैं।

श्री भगवतीचरण ने जिस मस्ती, अल्हड़ता का प्रकटीकरण अपने गीतों में किया है, वह अद्भुत वस्तु है। उनके गीतों में उन्मत्त प्रेमी के भावों की अभिव्यक्ति है। संगीत का उनमें प्रवाह है। सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि उनके गीतों में राग विराग, सुख दुख, उत्थान पतन और आशा-निराशा की भावनाएं स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हैं। जीवन की नश्वरता के प्रति व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले !
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले !
आये बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी
सब कहते ही रह गये अरे
तुम कैसे आये, कहाँ चले ?

इधर थोड़े से समय में जिन कवियों ने अत्यन्त ख्याति प्राप्त की है, उनमें श्री बच्चन भी एक हैं। बच्चन ने अपने निराशावादी गीतों के द्वारा संसार की नश्वरता और निराशा की गहन अनुभूति अत्यन्त सरल भाषा में व्यक्त की हैं। उनकी 'मधुशाला' 'एकान्त संगीत' और 'निशा निमन्त्रण' में इसी भावना के द्योतक गीत हैं। बच्चन में जीवन के यथार्थ और दार्शनिक तत्व को सरल, ललित और हृदयग्राही शैली में प्रकट करने की अद्भुत

क्षमता है। उनके इस गीत को देखें—

सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है !
उपहार हमें भी मिलता है,
श्रृंगार हमें भी मिलता है,
आँसू की बूंद कपोलों पर,
शोणित की-सी बन जाती है !
सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है !

प्रौढ़ कवियों में नरेन्द्र, अंचल और शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' और सुधीन्द्र अपनी अलग अलग विशेषता रखते हैं। नरेन्द्र का—'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !', नेपाली का 'दीपक जलता रहा रात भर', अंचल का इतनी भी बात न मानोगी, तुम मेरे साथ चली आओ', 'सुमन' का 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं' और सुधीन्द्र का 'दान का वरदान तुमको दे रहा हूँ' आदि ऐसे गीत हैं जिनका हिन्दी के गीति-साहित्य में अपना अपूर्व स्थान रहेगा। सभी में प्रकृति के सौन्दर्य में बिखरे हुए मधुर एवम् अलौकिक प्रेम की कोमल अभिव्यंजना है।

सर्वश्री आरसी, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, प्रेमी और उदयशंकर भट्ट सांस्कृतिकता के कट्टर पोषक और उपासक हैं। वे अपनी वाणी के द्वारा हमें नव निर्माण की ओर अग्रसर करते हैं। सोहनलाल और दिनकर ने मुख्यतः आजकल जीर्ण शीर्ण जड़ता का नाश करने के लिए जन साधारण के ही गीत लिखे हैं। उदयशङ्कर भट्ट के 'युग दीप' और 'मानसी' में अनेक सुन्दर गीत हैं, किन्तु गीति-काव्य की दृष्टि से वे आदरणीय नहीं। प्रगतिवाद के चक्कर में उनकी कोमलता जाती रही है।

डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

नाट्यकला की उत्पत्ति और विकास

साधारणतया जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि जाती है प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य द्वारा निर्मित प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य ही होती है। बहुत से पदार्थों के बनाने में हम अपने बुद्धिबल द्वारा उसमें अपना हस्तकौशल दिखाने का भी प्रयत्न करते हैं, इस प्रकार उपयोगिता के साथ-साथ सुन्दरता का भी समावेश पाया जाता है। किसी गुण या कौशल से जब किसी वस्तु में विशेष उपयोगिता और सुन्दरता आ जाती है तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है।

इस प्रकार कला के दो भाग ठहरते हैं। एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। उपयोगी कलाओं के द्वारा अधिकतर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और ललित कलाओं के द्वारा मनुष्य को अलौकिक आनन्द सिद्ध होता है। उपयोगी कला में—लुहार, सुनार, जुलाहे, कुम्हार, राज, बढ़ई आदि व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला के पाँच भेद हैं। दोनों ही उन्नति और विकास के द्योतक हैं। अन्तर केवल इतना है कि उपयोगी कला का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और ललितकला का सम्बन्ध उसके मानसिक विलास और विकास से है।

मूर्त आधार कम होने तथा मानसिक तृप्ति प्रदान करने की दृष्टि से ललित कला को उपयोगी कला की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना गया है। ललित कलाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उसे तृप्ति का साधन बनाती हैं।

मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं की श्रेणियाँ निर्धारित की जाती हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना कम होगा, वह कला उतनी ही उच्चकोटि की समझी जाती है। इसी भाव के आधार पर काव्य कला को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, क्योंकि उसमें एक प्रकार से मूर्त आधार का सर्वथा

अभाव ही रहता है और इसी क्रम के अनुसार वास्तुकला को सबसे नीचा स्थान दिया जाता है, क्योंकि बिना मूर्त आधार के उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

ललित कला के समान काव्य के भी दो विभाग हैं। श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। दृश्यकाव्य को हम नाटक अथवा नाट्यकला कहते हैं। काव्य-कला में "काव्येषु नाटकं रम्यम्, नाटकान्तं कवित्वम्" के आधार पर नाट्य-कला ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। कारण स्पष्ट है। नाटक में मानसिक भावों को व्यक्त करने की पूर्ण शक्ति रहती है। नाटक का व्यापक एवं स्थायी प्रभाव पड़ता है तथा उसके द्वारा बाह्य ज्ञान और अन्तर ज्ञान दोनों ही भली प्रकार से कराये जा सकते हैं।

वाङ्मय के अन्य विभागों की भाँति नाट्यकला के सम्बन्ध में भी हमारे प्रायः यही विचार हैं कि भारतीय नाट्यकला पश्चिमी नाट्यकला को देखकर ही विकसित हुई है। यह हमारी भूल है। ईसवी सन् के आस-पास हमारे यहाँ भरतमुनि द्वारा "नाट्यशास्त्र" जैसा सुन्दर ग्रन्थ प्रणीत किया जा चुका था। कालिदास जैसे श्रेष्ठ नाटककार अपनी उच्च नाट्य सृष्टियाँ प्रसूत कर चुके थे। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि नाट्यकला का जैसा सूक्ष्म एवम् मनो-वैज्ञानिक विवेचन नाट्यशास्त्र में हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है।

नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में लिखा है कि "एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखित हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिसके द्वारा सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्माजी ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से उन्होंने पंचम वेद "नाट्य-शास्त्र" की रचना की। इस नये वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया गया था। यथा—

सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्नम् सर्व शिल्प प्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमंवेदं सेतिहासं करोम्यहम्, (नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो०१५)

संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांग सम्भवम्।
(नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० १६)

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।
(नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० १७)

यहाँ संवाद, गीत और नाट्य के तत्वों के अतिरिक्त रस तत्व पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। इसके बिना नाटक का साहित्यिक एवं कलात्मक रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है।

यह पंचम वेद चतुर्वर्णों के लिए, विशेषकर शूद्रों के लिये रचा गया था। वेद मूलक होने के कारण भरत मुनि ने नाट्य साहित्य की यहाँ तक प्रशंसा कर डाली थी :—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्ये स्मिन् यन्न दृश्यते॥
(नाट्यशास्त्र अ० १ श्लो० १०६)

अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो नाट्य साहित्य में प्रदर्शित नहीं की जा सकती।

अब हम इस विषय में कुछ अन्य विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं।

डॉक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति का कारण मृतक वीरों की पूजा मानते हैं। उनके मतानुसार मृत व्यक्तियों की आत्माओं की प्रसन्नता के हेतु तथा उनके प्रति आदर का भाव प्रदर्शन करने के लिए नाटक प्रणीत हुए थे। उक्त कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि आदर्श एवं वीर पुरुषों के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले नाटक इस कोटि में रक्खे जा सकते हैं।

जर्मन विद्वान् डाक्टर पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते हैं। तथा पुत्तलिका नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद विदेशों में भी इसका प्रचार हुआ। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दों द्वारा इस मत की अच्छी पुष्टि हो जाती है। जैसे—पुत्तलिका नृत्य में उनका सूत्र किसी संचालक के हाथ में रहता है तथा एक व्यक्ति पुत्तलिकाओं को स्थापित करता रहता है, वैसे ही नाटक के भी सूत्रधार और स्थापक नाटकीय पात्रों का यथावत् संचालन करते रहते हैं। भारतवर्ष में आज दिन भी कठपुतली का नाच खूब प्रचलित है। बच्चे बड़े चाव से देखते हैं।

कठपुतलियों के नाच के प्रचार की बात गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा राजशेखर की बाल रामायण से प्रमाणित होती है। बृहत्कथा में लिखा है मायासुर की कन्या के पास ऐसी कठपुतली थी, जो नाचती, गाती और हवा में उड़ सकती थी। महाभारत में लिखा है कि उत्तरा ने अपने पति अभिमन्यु

से एक पुत्तलिका लाने को कहा था।

कुछ विद्वानों ने छाया नाटको से नाटको की उत्पत्ति मानी है। आधुनिक सिनेमा को भाति पहले छाया नाटक भी दिखाये जाते थे। इस मत की पुष्टि में विद्वानो ने काफी खोज की है तथा प्रमाण उपस्थित किये हैं। इतना होने पर भी यह मत अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता है। भारत का नाट्य साहित्य बहुत पुराना है और इस मत को हम भारतीय नाटकों की आधार शिला नही मान सकते।

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटक को वेद मूलक ही बताते हैं। ऋग्वेद मे कई सवाद सूक्त आते हैं। इनमें पुरुरवा और उर्वशी का संवाद विशेष रूप से प्रसिद्ध माना गया है। इन संवाद सूक्तों का कथोपकथन बिलकुल ही नाटक का आधार स्तम्भ कहा जा सकता है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि भारतीय नाट्य-साहित्य और नाट्यकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। हमारे आदि काव्य "बाल्मीकि रामायण" में भी नाट्य विषयक कई बाते मिल जाती हैं। यथा—

नाराज के जनपदे प्रहृष्टाः नट नर्तकाः १, ६७, १२

जिस जनपद मे राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में राजा लोग नटो को अपने आश्रय में रखकर उनको नाटक का अभिनय करने के लिए प्रोत्साहन दिया करते थे। इसी प्रकार महाभारत में भी "नट" शब्द की कई स्थानो पर चर्चा मिलती है। महाभारत के अन्तर्गत हरिवंश पुराण मे तो रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अग्निपुराण में इन्हीं श्रव्य तथा दृश्य काव्यो की विशद विवेचना की गई है। इन ग्रन्थो का रचना काल भले ही सन्दिग्ध हो परन्तु इतना निश्चित है कि भारतीय नाट्यसाहित्य एवम् नाट्यकला प्राचीनतम है, तथा वह किसी अन्य देश की देन नहीं।

हमने आधुनिक विद्वानो के जिन मतों का ऊपर उल्लेख किया है, उनके अनुसार नाटक के उदय के सम्बन्ध मे मुख्यतया दो मत ठहरते हैं। एक मत तो यह है कि भारतवर्ष में नाटको का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ, और दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। विदेशी विद्वानो ने इस विवाद में विशेष रुचि एवं दिलचस्पी दिखाई है। ये कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाजिक

और लौकिक कृत्यों में कोई विशेष भेद नहीं है। एक के बिना अन्य की स्थिति सम्भव नहीं। भारतवर्ष में धर्म मानव जीवन का अङ्ग है।

इस देश में इन तीनों को एक दूसरे से अलग करना सर्वथा असम्भव है। जितने आनन्द के साधन हैं उनका मूल धर्म में है। नाटक की रचना भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए हुई थी। यही कारण है कि भारतीय नाट्य साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है, इन धार्मिक कृत्यों में किन्हीं कारण वश अधर्मता आजाय यह बात दूसरी है। इसका सारांश यह हुआ कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों से हुआ। पीछे से रामायण, महाभारत, काव्य और इतिहास ग्रन्थों से उसे पर्याप्त सामग्री मिली और वह अपने पूर्ण रूप में आ गया।

अनुकरण दृश्य काव्य की विशेषता है। हमारे यहाँ इसके लिए रूपक शब्द का प्रयोग किया गया है। रूपक काव्य की वह विशेष दिशा है जिसमें लोक परलोक की घटित अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है। गीत आदि उपकरणों के अभाव में नाटक की रचना हो सकती है, परन्तु अनुकरण के अभाव में उसकी प्राण प्रतिष्ठा असम्भव है।

"अवस्थानुकृतिनाट्यम्" हम नाटक में भिन्न-भिन्न श्रेणी और अवस्था के व्यक्तियों की नकल करके वही आनन्द लेते हैं जो एक इतिहास के अध्ययन अथवा अपनी तस्वीर देखने में आता है। पात्रों को अनुकरण में और दर्शकों को नाटक देखने में अपने भावों को प्रकाशित करने का पूरा अवसर मिल जाता है। इस प्रकार नाटक के मूल में चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं यथा—१—अनुकरण, २—पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, ३—जाति की रक्षा, ४—आत्माभिव्यक्ति।

भारतवर्ष में तो प्राचीन एवं सर्व प्रचलित रामायण आदि के कथानकों के अनुकरण पर नाटकों की रचना हुई है। यूनान के करुणरसात्मक (Tragedy) की उत्पत्ति डायोनियस नामक देवता के अनुकरण में किये गए नृत्य के रूप में हुई। डायोनियस का पर्व वर्ष के प्रारम्भ में बसन्तागमन के समय मनाया जाता है परन्तु यह समारोह नव वर्ष के स्वागतार्थ नहीं, बल्कि नवीन वर्ष के अहंकार और दण्ड का विधान करने के आशय से होता है। इस पर्व का प्रायश्चित वर्ष के अन्त में उसे मृत्यु दण्ड देकर किया जाता

है। नव वर्ष का अहंकार और उसका दण्ड, उस दण्ड का प्रायश्चित, फिर नव वर्ष का आगमन यही डायोनियस पर्व का चिर चक्र बन गया था। यूनानी ट्रेजडी डायोनियस के पर्व तक ही सीमित नहीं रही। उसमें देश के अन्य वीर पुरुषों की स्मृति मनाई जाती थी तथा महाकाव्यों के वीर पुरुषों का अनुकरण भी होता था। वास्तव में यूनानी नाटकों का यह प्रारम्भिक रूप स्मृति उत्सव था। इसमें सब लोग वीर पुरुषों की समाधि पर इकट्ठे होते और उनके साहस पूर्ण कार्यों का रास रचते एवं उनके जीवन के कष्टों का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार मौलिक रूप से भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-कला में केवल जीवन का सुखद पक्ष निखरता था और वह चित्त प्रसन्न करने के लिए ही खेले जाते थे, यूनान में उनमें हत्या, पीड़ा आदि भयानक घटना-चक्र और नृत्य की प्रधानता रहती थी। वहाँ के हास्य नाटकों में भी अश्लीलता के स्वाँग और गीत प्रमुख थे।

आगे चलकर यूनान के नाटकों में अस्वाभाविकता की मात्रा बढ़ गई। अभिनेतागण वास्तविकता की झूठी चेष्टा में चेहरों पर नकाब लगाकर आते थे, जो नाटकीय कला के विचार से सोचनीय दोष था। नकाब पोशी का यह क्रम हमारे देश में भी पाया जाता है। रामलीला के समय में हनुमान, अंगद, रावण आदि अभिनेता गण बने हुए चेहरे लगाकर खेल करते देखे जाते हैं। उन्हीं के अनुकरण पर खिलौने वाले छोटे छोटे चेहरे बनाकर बेचते हैं। इन्हें लगाकर हमारे बच्चे रामलीला का स्वाँग रचते हैं।

यूनान से चलकर जब पाश्चात्य सभ्यता रोम तक पहुँची, नाटकीय कृतियों की सृष्टि का केन्द्र रोम बन गया। यहाँ विशेष कर हास्य नाटकों की रचना हुई। रोम की विलासी सभ्यता के दल दल में फँस कर नाटकों का पतन हो गया। नाटक का अभिनय करना रोमन दासों का काम हो गया और इन दासों के साथ भांति भांति के व्यभिचार होने लगे। अन्त में राज्य की ओर से इन पर प्रतिबन्ध लगाये गये और धीरे धीरे वे बन्द हो गए।

मध्य युग में यूरोप में नाट्य साहित्य का फिर उत्थान हुआ। इस युग में नकाबपोशी का अन्त हो गया जो अनुकरण कार्य के लिए एक शुभ सन्देश था। शेक्सपियर के हाथ में आकर नाट्यकला को नवीन जीवन प्राप्त हुआ और तब से लेकर आज तक नाटकों का यह क्रम जारी है और उनमें क्रमिक विकास एवं उन्नति हो रही है। जार्ज बर्नार्डशा आज अंग्रेजी का प्रमुख नाट्यकार हुआ है। वहाँ अब जीवन की ही भाँति सुख दुःख मिश्रित दृश्य

नाटकों में भी दिखाये जाते हैं। नित्य प्रति की बोल चाल की भाषा ही नाटकों की भाषा बन गई है और रंगमंच पर सामयिक वातावरण दिखाई देता है।

ईसा के तीन शताब्दी पूर्व तक का भारतीय नाट्य-साहित्य अज्ञात कालीन है। इसके बाद पाणिनि के व्याकरण शास्त्र में शिलालिनि, कृशाश्व आदि नाट्य साहित्य के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतंजलि के महाभाष्य में भी कंसवध, बलिबन्धन का उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाट्यकार कालिदास का समय भी ईसा के एक शताब्दी पूर्व मान लिया गया है। इनके बाद भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक और राजशेखर आदि नाटककारों ने बड़े ही मनोरंजक एवं व्यवस्थापूर्ण नाटकों की रचना की। इन नाटककारों के नाटक पूर्ण रूप से विकसित हैं।

इस प्रकार दशवीं शताब्दी तक संस्कृत में अच्छे नाटकों की भरमार रही। बाद में उन्नीसवीं शताब्दी तक के लम्बे काल में रचा हुआ हमें कोई नाटक नहीं मिला है। यद्यपि हनुमन्नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय, रत्नावली आदि नाटक इसी अन्धकाल में बने थे, फिर भी नाटकों के नियमों का यथावत् पालन न होने के कारण उन्हें अच्छे नाट्य साहित्य की कोटि में नहीं रख सकते हैं।

हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। अनुमानतः यह सन् १७०० में लिखा गया था और इसके लेखक रीवाँ नरेश महाराज विश्वेश्वरजू थे। वैसे हिन्दी नाटकों की परम्परा दो रूपों में चली। अनुवादित एवं मौलिक। इन दोनों परम्पराओं में राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत नहुष लिखे गये।

हिन्दी में खेले जाने वाले नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाना चाहिये। उन्होंने सन् १८६२ में 'जानकी मङ्गल' नामक हिन्दी में खेले जाने वाला सर्व प्रथम नाटक लिखा। उसके बाद नाट्य रचना की एक परम्परा ही चल पड़ी। इनमें जयशङ्कर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, और गोविन्ददास आदि स्वनामधन्य नाटककारों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मौलिक नाटक भी लिखे हैं तथा संस्कृत और बंगला से अनुवाद भी किये हैं। इसे हम हिन्दी साहित्य के मौलिक नाटकों का प्रारम्भिक युग या मध्य युग ही कहेंगे।

आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व थियेटरों की बड़ी धूम थी। इनमें अधि-

कोंश पारसी कम्पनियाँ थीं और वे विभिन्न कथानकों के आधार पर खेल खेला करती थीं। इन्हीं के साथ जगह जगह रासलीलायें हुआ करती थीं। इन रासों में बहुत करके श्रीकृष्णलीला सम्बन्धी खेल खेले जाते थे। राम के जीवन से सम्बन्धित रामलीला आज दिन भी होती है परन्तु उसका स्वरूप भिन्न है। नाटक से वह बहुत दूर है। जब से सिनेमाओं का प्रारम्भ हुआ है, तब से थिएटर, नाटक, रास आदि सब समाप्त हो गये हैं। जहाँ कहीं एक आध थिएटर अथवा रास जब कभी खेल लिए जाते हों वह बात दूसरी है परन्तु उनका चलन अब समाप्त सा हो गया है। कारण स्पष्ट है कि सिनेमा में सब प्रकार के दृश्य सरलता से दिखाए जा सकते हैं, साथ ही रंगमंच आदि का उनके साथ कोई झगड़ा नहीं।

नाटक वास्तविकता की नकल है और सिनेमा उस नकल की नकल है। सिनेमा देखते समय हमें ऐसा लगता है कि हम केवल छाया देख रहे हैं, असलियत से बहुत दूर हैं।

इंगलैण्ड, अमेरिका आदि देशों में हालांकि सिनेमाओं का काफी जोर है, वहाँ के सिनेमा अपनी चरमसीमा पर हैं, परन्तु फिर भी वहाँ नाट्यकला यथावत् है। वहाँ के निवासी आज दिन भी थियेटरों को उसी चाव के साथ देखते हैं। थियेटरों में इतनी भीड़ होती है कि बैठने के लिए बहुत पहले से स्थान सुरक्षित कराना पड़ता है। अतः हमारे विचार में सिनेमा के प्रचार से नाट्यकला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं। नवीन नाटकों की उद्भावना के बिना साहित्य पंगु हो रह जायगा।

श्री चन्द्रवली पांडे

हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी

देश के सामने जो प्रश्न उपस्थित है वह हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी का है। उर्दू नाम की अयोग्यता के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने 'हमारी जबान का नाम' शीर्षक लेख में इसकी १४ त्रुटियों का उल्लेख कर यह प्रस्तावित किया है कि हमारी भाषा का नाम हिन्दुस्तानी ही होना चाहिए। उन्होंने वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि हमारी भाषा का नाम मुसलमानों के सन्तोष के लिए ही माना गया है, नहीं तो इसका पुराना और अरबी नाम 'हिन्दी' ही है।

उनके तर्क पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में हमें कहना यह है कि अरब सदा से इस देश को हिन्द और यहां के निवासी तथा भाषा को हिन्दी कहते आ रहे हैं। ईरानी, तूरानी अथवा खुरासानी लोगों ने अवश्य हमको तथा हमारी भाषा को हिन्दुस्तानी कहा परन्तु भाषा के अर्थ में प्रायः नहीं के बराबर। हिन्दुस्तानी का प्रयोग भाषा के अर्थ में फिरंगियों के साथ बढ़ा है और उन्हीं की कृपा से हमारी भाषा का नाम हिंदी से हिन्दुस्तानी हो गया है। इस हिन्दुस्तानी के विषय में इतना टाँक लेना चाहिए कि यह वास्तव में उत्तर जनता की वाणी नहीं, उर्दू की ही जबान का ही दूसरा नाम है।

उर्दू क्या है।

हमने 'उर्दू की जबान' का प्रयोग जान बूझ कर यह दिखाने के लिए किया है कि यह वस्तुतः उर्दू जबान नहीं 'उर्दू की जबान' ही है, जिसमें उर्दू का अर्थ है उर्दू-ये-मोअल्ला या देहली का लाल किला। शाहजानबाद के किला-मोअल्ला की जबान का ही नाम उर्दू है, कुछ किसी बाजार या लश्कर की भाषा का नाम नहीं। उर्दू का अर्थ बाजार नहीं, सदर छावनी या शाही पड़ाव या दरबार ही है। इसी से आरम्भ के अंग्रेजी कागजों में इसको दरबारी या ईरानी शैली कहा गया है। यहाँ तक कि स्वयम् डाक्टर गिलक्रिस्ट ने भी इसे 'हाईकोर्ट आर परशियन

स्टाइल आव हिन्दुस्तानी' कहा है। डाक्टर गिलक्रिस्ट ने एक ही भाषा हिन्दुस्तानी के तीन रूपों को महत्व दिया है जिनमें से उर्दू को 'मिरजा' या दरबार की शैली कहा है और हिन्दवी या हिन्दी को ठेठ गंवार की शैली। दोनों से अलग रह उन्होंने जिस शैली का अधिक प्रचार किया है वह है उनकी दृष्टि में परिचित हिन्दुस्तानी अथवा 'मुंशी' की शैली। परन्तु मुंशी शैली अर्थात् उनकी 'प्रचलित हिन्दुस्तानी' का झुकाव उर्दू यानी दरबार की ओर ही रहा है, इसका खेद भी उनको बहुत रहा है।

हिन्दी का भेद

भाव यह कि उर्दू, हिन्दुस्तानी, हिन्दी का भेद यह है कि उर्दू वास्तव में ईरानी तूरानी या दरबारी लोगों की भाषा है और हिन्दुस्तानी उनके पढ़े लिखे नौकर-चाकर अथवा मुंशी लोगों की भाषा। रही हिंदी सो ठेठ जनता, किसान और अपढ़ मजदूर की भाषा है। कहा जा सकता है कि डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'हिन्दवी' आज की हिन्दी नहीं। ठीक है, परन्तु यह भी तो स्पष्ट रहे कि स्वयम् सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी हिंदी को ही समस्त उत्तर की भाषा कहा है कुछ उर्दू को नहीं। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'हिंदी' शब्द का व्यवहार इसी प्रचलित भाषा के अर्थ में किया है और उसे 'हाई हिंदी से अलग माना है। उनकी हिंदी का 'हिंदुस्तानी' से कोई विरोध नहीं; हाँ, उनकी 'हाई हिन्दी' की यह विशेषता अवश्य है कि वह फ़ारसी-अरबी शब्दों से अलग रहना चाहती है।

समस्त उत्तरापथ

इस प्रकार भी हम देखते हैं कि 'हिंदी शब्द और हिंदी भाषा में कोई बहिष्कार की भावना नहीं और फलतः वही सब की भाषा और प्रचलित बोली का नाम है। उसी का प्रचार समस्त उत्तरभारत में है। स्पष्ट रहे, सर जार्ज ग्रियर्सन ने उसके एक भेद का नाम नीतिवश हिन्दुस्तानी रख दिया है जिसका प्रसार गङ्गा-यमुना की तलेटी, पूर्वी पंजाब और कुछ रुहेलखण्ड में माना है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यह पछाँहीं बोली उर्दू से अधिक प्रभावित और उसके अधिक निकट है। निदान इसकी शब्दावली और रीति-नीति शेष हिन्दी से कुछ भिन्न है। साराँश यह है कि यदि समूचे हिन्दी प्रदेश को साथ लेकर चलना है तो हिन्दुस्तानी नहीं, हिन्दी के सहारे ही आगे बढ़ना होगा। कारण हिन्दी ही समस्त उत्तरापथ की भाषा है। हिन्दुस्तानी और उर्दू तो उसकी शैलियों का नाम है। इनमें से उर्दू का प्रचार २०० वर्ष से पुराना नहीं

और हिन्दुस्तानी का १५० साल से पहले का नहीं। हाँ, उर्दू और हिन्दुस्तानी का प्रयोग यहाँ निश्चित और ठेठ अर्थ में ही किया गया है, कुछ आज कल के मनमाने अर्थ में नहीं।

उर्दू के ठेठ अर्थ के विषय में तो नहीं, पर हिन्दुस्तानी के ठेठ अर्थ के विषय में हमें यहाँ थोड़ा सा कुछ कह देना है, जिससे हिन्दुस्तानी का भ्रम लोगों के चित्त से दूर हो जाय और हिन्दी का द्वेष भी उनके मन से जाता रहे। हिन्दुस्तानी का ठेठ अर्थ है हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दू, कुछ हिन्दी अथवा हिन्द का निवासी मात्र नहीं। यही कारण है कि यहाँ का ठेठ मुसलमान भी अपने को हिन्दुस्तानी नहीं कहता, पर किसी भी मुसलमान को अपने को 'हिन्दी' कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। 'हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्तान हमारा' की घोषणा तो अल्लामा मुहम्मद 'इकबाल' के ही मुँह से निकली थी न? और यही अल्लामा 'पाकिस्तान' के भी जन्मदाता भी हैं न?

'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में केवल एक ही बात कही जाती है और वह यह कि इस नाम से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता बल्कि सब का कुछ बन जाता है। वह हिन्दी भी है और उर्दू भी। सब सही, पर वह है कहाँ? इसी में झगड़ा है। हम इस झगड़े में पड़ना नहीं चाहते, पर इतना कह देना अवश्य चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी का इसलाम से कोई नाता नहीं और वह मुसलमान को प्रिय नहीं। रही हिन्दी, सो भी आज द्वेष की दृष्टि से देखी जा रही है और मुसलमान सदा अपने को अहिन्दी सिद्ध करने में ही लगा है। फिर हिन्दुस्तानी के द्वारा मेल जोल का काम चल कैसे सकता है।

हमारी स्थिति स्पष्ट है। हम २०० वर्षों के इतिहास को जानते हैं और इसी से यह मानते हैं कि इस देश में 'उर्दू' के द्वारा जो हुआ अथवा 'हिन्दुस्तानी' के द्वारा जो होना चाहता है, वह सभी अनिष्टकारी और घातक है। प्रश्न सीधा है। हम हिन्दी हैं पर हिन्दी को क्यों नहीं चाहते? हिन्दी संस्कृत नहीं, फिर उससे इतना विद्वेष क्यों? कारण प्रत्यक्ष है। हम मिलना जो नहीं चाहते, जब तक बिलगाव के लिए फारसी रही, हिन्दी का कोई विरोध नहीं हुआ और सभी जनवाणी का सत्कार करते रहे। जब फारसी की महिमा घटी, 'दक्खिनी' का आदर बढ़ा और किसी 'उर्दू' की ईजाद हुई तो हिन्दी की निन्दा बढ़ी और उससे जलन उत्पन्न हुई। उर्दू के कारण 'अमीर' और 'गंवार' का भेद बना रहा। जब गंवार और गाँव के दिन जगे और उससे

राज की बजी, तब राज पर विपदा आ पड़ी। उर्दू जबान तिलमिला उठी और अब वह हिन्दुस्तानी के रूप में रहना चाहती है और भूल कर भी वह निरी हिन्दी से मिलना नहीं चाहती। नाम तो एक चाहती है पर काम अलग अलग। वह फारसी वेश में रहे और नागरी भूषा में भी। रहे तो वह एक ही पर देखने में जान पड़े दो। है न यही हिन्दुस्तानी का दर्शन।

हम इस दर्शन के विषय में केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इसमें एकता नहीं अनेकता है। इसमें राष्ट्र का कोई हित नहीं। यह बिलगाव का मार्ग और पतन का पैंड़ा है परिधान की एकता सेना की एकता है, विधान की मर्यादा राष्ट्र की मर्यादा है। परिधान की विभिन्नता भी कैसी ? ठीक विपरीत दिशा में। एक की गति बायें से दायें तो दूसरे की दायें से बायें है। भला जिस हिन्दुस्तानी ने दायें से बायें जाना ही सीखा वह किसी के दाहिने कब हो सकती है। वाममार्गी तो उसका संस्कार ही बन गया।

निदान कहना पड़ता है कि यदि सचमुच संसार में कुछ होकर रहना है तो तुरंत इस वामपक्ष का अन्त करो और झट सभी दक्षिण मार्गी बनो। रही नाम की बात। तो यहाँ भी खरी खरी सुन लो। माना कि नाम में कुछ नहीं रक्खा है, पर इस नाम रूपात्मक जगत में नाम और रूप के अतिरिक्त और कुछ है भी तो नहीं ! निदान नाम' को तो रखना ही होगा 'रूप' को भी। हमारा नाम रख दिया गया है हिन्दी और हम इसी से हैं भी आज हिन्दी। हमारा रूप कह दिया गया है नागरी इसी से आज हम हैं भी नागरी। अर्थात् हमारी भाषा का नाम है हिन्दी और उसका रूप है नागरी। इसी से हम कहते हैं कि यदि सचमुच आपकी दृष्टि में 'नाम' से कुछ नहीं रक्खा है तो कृपा कर आप भी इसी नाम को ग्रहण कर लीजिए। आपके न्याय और आपके दर्शन से इसमें कुछ बाधा नहीं और है राष्ट्र का इससे उद्धार। फिर विलम्ब काहे का ! घोषित कीजिए फिर हिन्दी को राजभाषा और नागरी को राजलिपि और छोड़िये हिन्दुस्तानी का झमेला। बहुत हो चुकी हिन्दुस्तानी घिस घिस। दे दीजिये अंगरेजी के साथ ही उसे भी विदाई। फिर देखिये कि एक भाषा और एक लिपि के द्वारा आप में एकता का संचार होता है या नहीं ? अरे जो हिन्दी का नहीं हुआ वह भला हिन्दुस्तानी का क्या होगा ? सो भी हिन्दुस्तानी ? छोड़ो इस-व्यामोह को और हो रहो हिन्दी। है साहस ? स्मरण रहे; साहस में ही श्री बसती है।

श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है

"यदि आप मुझसे पूछना चाहें कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न किस दिन आरम्भ हुआ तो मैं इतिहास के पृष्ठों को साक्षी बनाकर कहूँगा कि वह था आज से २६ वर्ष ३ मास पहले का सन् १६१६ के दिसंबर के अन्तिम सप्ताह का कोई वह दिन, जिस दिन गांधीजी के श्रीमुख से हिंदी के लिए भारत की राष्ट्रभाषा की उपाधि विनिसृत हुई थी। वह दृश्य आता है, जब कोट-पेंयट-कालर-टाईधारी लखनऊ कांग्रेस में सन् १६१६ के दिसम्बर मास में एक दुबला पतला गंवार, काठियावाड़ी पगड़ी बाँधे, अँगरखी पहने, धोती, चप्पल पहने, अपने दृगों में युग-युग का स्वप्न समेटे अपनी मुख-मुद्रा पर मानवता के कोटि-कोटि दीनों एवं दलितों की व्यथा की छाप अङ्कित किए, कांग्रेस मंच पर आया और बोल उठा अध्यक्ष महोदय, प्रतिनिधि भाइयों और बहिनें! उस समय तक उसे यह भी पता न था कि 'बहिन' शब्द का बहु-वचन सम्बोधन कारक में 'बहिनो' हो जाता है। लखनऊ कांग्रेस पर जैसे वज्रपात हुआ। सब लोग भौचक्के रह गये। यह कौनसी भाषा बोल रहा है? गँवारों की भाषा, जिसे हम हिन्दी कहते हैं? कांग्रेस में हिन्दी? उसकी वाणी से हिन्दी भाषा के शब्द ज्योंही निकले कि सब ओर से आवाज आने लगी—इङ्गलिश! इङ्गलिश!! समाचार पत्रों के सम्वाददाता चीख पड़े इङ्गलिश, इङ्गलिश, मिस्टर गाँधी, वी कैन नाट 'अण्डरस्टेण्ड यू।' (मिस्टर गाँधी अङ्गरेजी में बोलिए, हम आपकी बात इस भाषा में नहीं समझ पाते।) उस समय काठियावाड़ी पग्गड़धारी गंवार ने तमक कर कहा था—अच्छा एक वर्ष तो और, परन्तु उसके अनन्तर मेरे सब भाषण हिन्दी में हुआ करेंगे। यदि आप मेरे भाषणों को लिखना चाहें तो आप भारतवर्ष की राष्टभाषा हिन्दी सीखिए।

महात्मा गांधी की देन

"गांधी ने देश को अनेक वरदान दिए हैं, उनमें से यह वरदान भी एक महान् एवं महत्वपूर्ण वरदान है। आज यदि हम एक क्षण को पीछे मुड़ कर

अपने देश के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि गांधी ही एक ऐसा क्रान्तिशील युग-पुरुष है जिसने देश की आत्मा को एक तार में आवद्ध करने की आवश्यकता को न केवल अनुभव ही किया, वरन् उसने उस तार को झंकृत करने के लिए हिन्दी राष्ट्र-भाषा की मिजराव भी देश को दी। विदेशी भाषा, विदेशी वेश-भूषा, विदेशी विधानवाद एवं विदेशी भीति-भावना से लदी हुई कांग्रेस को—उस कांग्रेस को जो उस समय तक केवल नगरों तक ही सीमित थी और जिसका एकमात्र जागरण काल प्रति वर्ष दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में प्रारम्भ होकर तत्काल ही समाप्त हो जाता था,—गांधी ने जब एक जाग्रत, चेतन, क्रियाशील, क्रान्तिकारी राष्ट्रीय सङ्गठन में परिवर्तित करने का कार्य प्रारम्भ किया तब उसने भारत के लिए एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता अनुभव की और हिन्दी ही को उसने इस पद पर आसीन किया।

हमारे देश का यह युग गांधी युग के नाम से विख्यात है। इस युग में हमने शताब्दियों की अपनी शृङ्खलाओं को—रूढ़िमूलक, अविचारपूर्ण, प्राणांतक धार्मिक एवं सांस्कृतिक शृङ्खलाओं को खण्डित होते देखा है। खण्डित होते समय की उनकी झनझनाहट से हमारे मन एवं हृदयों में एक अभिनव सिहरन उत्पन्न की है। हमारे प्राण पखेरू ने अपने अनिमेष नयनों से असीम आकाश को नापने और अपने शताब्दियों के परिपाटी-पिंजर बद्ध, किन्तु अब उन्मुक्त पंखों से दिगदिगन्त को अतिलङ्घित करने का साहस किया है। और आज के हमारे साहित्य में इस उड़ान की अस्पष्ट किन्तु निश्चित आकुलता के दर्शन हो रहे हैं। हमारे साहित्य पर, हमारे काव्य, उपन्यास कथा साहित्य पर, हमारे निबन्ध एवं आलोचना साहित्य पर, गांधी के महामहिम व्यक्तित्व की, उनकी प्रचंड कर्मठता की, उनके सनातन किन्तु नित-नव सिद्धान्तों की अमिट छाप पड़ी है। गाँधी के सहस्र-सहस्र अजस्र बलिदानों ने देश को अयुत वरदान दिए हैं। हमारा साहित्य भी गांधी के वरदानों का प्रसाद प्राप्त कर रहा है। भारतवर्ष के जन समूह को भारत के आबालवृद्धों को भारत की नारियों को भारत के विभिन्न धर्मावलम्बी जनों को, भारतवर्ष के तृणपल्लवों, रजकणों एवं यहाँ तक कि अनिलाम्बर को गांधी ने विद्रोही बनाया। हिन्दी भाषा के साहित्य में जो आशावादितापूर्ण विद्रोह की अभिव्यक्ति है, वह गांधी की देन है? जिस अणोरणीयान् महतो महीयान् परम तपस्वी नरोत्तम गांधी ने 'जी हाँ' कहते रहने वाले इस देश 'कदापि नहीं!' कहने का दुर्दमनीय, साहस प्रदान करके मानव-समाज के

इतिहास में एक अघटितपूर्ण अद्भुत राष्ट्रीय क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित की उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर कैसे न पड़ता ? आज उस प्रभाव का बिम्ब आप अपने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग पर देख सकते हैं।

शाश्वत साहित्य की आवश्यकता

'साहित्य' युग धर्म के प्रभाव से न तो अस्पृष्ट रहता ही है और न रखा जा ही सकता है फिर भी साहित्य में युग-धर्म का वही तत्व श्रेयस्कर है, जो शाश्वत, सनातन चिरकल्याणकर होता है। मानव एक युग का नहीं, युग-युग का, कल्पों एवं मन्वन्तरों का सञ्चित सांस्कृतिक प्रतीक है। अतः साहित्य-कारों को युगविशेष के क्षणिक आवेश से पूर्णतः अभिभूत नहीं होना चाहिये।

'मेरा सदा से यह विचार रहा है और आज भी है कि साहित्य किसी वाद विशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रगतिवाद या युग-धर्मवाद या श्रेणीवाद अथवा विचारविशेषवाद का प्रतिपादक साहित्य ही साहित्य है—ऐसा सोचने वाले अपने ऊपर और अन्यों पर भी अन्याय करते हैं। यह कहना कि विचार-विशेष का प्रतिपादक होने के कारण गोर्की ही साहित्यकार है और उक्त विचार विशेष का प्रतिपादक न होने के कारण रवीन्द्र ठाकुर साहित्य-स्रष्टा नहीं है, न केवल हठधर्मी ही है वरन् एक अवि-चार भी है। सत् साहित्य वह है जो मानव के कल्याणसाधन में सहायक हो सके और यह कहना कि श्रेणीचेता प्रेरक-साहित्य ही मानवकल्याण साधन में समर्थ है, तो वह एक ऐसा सिद्धान्त है जो मानव-कल्याण को अत्यन्त सीमित कर देगा।

प्रो० गोपीनाथ तिवारी

हिन्दी उपन्यास साहित्य का विकास

संस्कृत साहित्य में 'कादम्बरी' एक प्रसिद्ध उपाख्यान पुस्तक है। इसे जी चाहे तो आत्मतुष्टि के लिए 'उपन्यास' कह लें किन्तु वास्तव में यह उपन्यास है नहीं। 'दशकुमार चरित' तो एक विस्तृत साधारण कथा मात्र है। उसकी अपेक्षा 'कादम्बरी' उपन्यास नाम के अधिक निकट है। 'कादम्बरी' को छोड़ स्वयं संस्कृत में कादम्बरी जैसी दूसरी पुस्तक नहीं। अनेक प्रतिभाशाली साहित्य-निर्माताओं ने नाटक निर्माण पर हस्तकौशल दिखाया। किन्तु, दुख है, गद्य की अद्भुत प्रगति होने पर भी अनेक गुणों से युक्त एवं सरस गद्य के लिखे जाने के बाद भी किसी ने 'उपन्यास' या उपन्यास जैसी वस्तु संस्कृत संसार को नहीं दी। अतः हिन्दी में 'उपन्यास' का अवतार पूर्व प्रचलित परम्परा से नहीं हुआ। जैसे संस्कृत नाटकों से प्रेरणा पाकर हिन्दी में उनके आधार अथवा संकेत पर नाटक लिखे गये, वैसे ही उपन्यास के विषय में नहीं कहा जा सकता। 'कहा निचोरे नग्न जन स्नान सरोवर कीन'। जब स्वयं संस्कृत माँ का आँचल 'उपन्यास' से रिक्त था, तो वह हिन्दी सुपुत्री को कहाँ से दान करती? अतः जो संस्कृत साहित्य से हिन्दी उपन्यासों की परम्परा जोड़ते हैं, संस्कृत उपन्यास 'कादम्बरी' के प्रांगण में हिन्दी उपन्यास के बिरवे को लगाते हैं, उनके इस साहस को महाब्राह्मण शब्द की नाईं महासाहस ही कहना पड़ेगा।

वास्तव में हिन्दी उपन्यास का जन्म पश्चिमी गोद में हुआ। अंगरेजी के उपन्यासों तथा बङ्गला के उपन्यास-सहोदरों को देख हिन्दी में ऐसी वस्तु लाने की इच्छा हिन्दी प्रेमियों को हुई। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल किशोरीलाल गोस्वामी को हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार स्वीकार करते हैं। उधर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी 'कुछ' नामक पुस्तक में इस पद पर 'खत्रीजी' को आसीन करना चाहते हैं। दोनों के उपन्यास निकट समय ही प्रकाशित हुए। किन्तु किशोरीलाल गोस्वामी जी का उपन्यास दो वर्ष पूर्व (१८८८ में) जनता के सामने आ गया। यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है, कि भारतेन्दु जी

जिन्होंने हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति में सहयोग दिया, हिन्दी माँ के चरणों में धन के साथ-साथ कविता, आलोचना, नाटक, निबन्ध, पत्र पत्रिकायें दीं, उन्होंने उपन्यास से क्यों माँ को वञ्चित रक्खा ?

भारतेन्दु जी का ध्यान इस ओर भी था। भारतेन्दु जी ने अमृतसर निवासी सन्तोष को लिखा था 'जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं अब तक उन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सम्पादक जैसे बा० काशीनाथ व गो० राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।

हिन्दी के उन्नायक भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी ने स्वयं भी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया है। किन्तु 'विधि गति बाम सदा सब काहू।' हिन्दी के भाग्य में यह सुख न था। उनका उपन्यास 'अपूर्ण' रह गया। या तो उन्होंने स्वयं प्रयत्न त्याग दिया अथवा काल ने छुड़ा दिया। भारतेन्दु युग में कुछ उपन्यास, परीक्षा गुरु (ले० श्रीनिवासदास) श्यामा स्वप्न (ले० ठा० जगमोहनसिंह) आश्चर्य वृतान्त (ले० अम्बिकादत्त व्यास), सौ अजान एक सुजान (ले० बालकृष्ण भट्ट) निस्सहाय हिन्दू (ले० राधाकृष्ण) निर्मित हुए किन्तु निस्सन्देह ये सब उपन्यास की साहित्यिक संज्ञा के योग्य नहीं। इनमें परीक्षागुरु अवश्य दूसरों से बढ़कर है। नहीं तो सभी उपदेश वृत्ति अथवा चमत्कार प्रदर्शन के लिए लिखे गए साधारण ग्रन्थ हैं।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखे। पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी जी के विषय में लिखते हैं। 'साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का पहिला उपन्यासकार।....और लोगों ने भी उपन्यास लिखा, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गये।' गोस्वामीजी के उपन्यास शृङ्गार भावना से तरंगित हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों की नाईं वे भी जनता को 'इश्कबाजी' का गरमागरम मसाला देना चाहते थे। उनके उपन्यासों के शीर्षक ही प्रकट करते हैं कि बिहारी की भाँति कृष्ण को छोड़ राधिका उनके उद्देश्य-क्षेत्र में है। कुछ नाम ये हैं—

चपला या नव्यसमाज चित्र, तारा, रजिया बेगम, मल्लिकादेवी वा बंग सरोजनी, लीलावती वा आदर्श सती, राजकुमारी, स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी, तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी, हृदयहारिणी वा आदर्शरमणी, लवंगलता या आदर्श बाला, कनक कुसुम या मस्ताना, प्रेममयी, गुलबहार, इन्दुमती या वनविहंगिनी, लावण्यमयी, प्रणयनि-परिणय, चन्द्रवती वा

कुलटा, कुतूहल, हीराबाई या बेहयाई का बुर्का।

नामों को सार्थक करने वाली घटनाएँ ही नहीं, गोस्वामीजी ने अपने उपन्यासों के परिच्छेदों का नामकरण भी शृंगार-भावना के अनुकूल किया है। 'मदनमोहिनी' में परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं—अंकुर, पल्लव, शाखा, पुष्प, सुरभि पराग, फल, मधु आस्वादन, परितृप्ति। काम-शास्त्र या लोक-शास्त्र के ज्ञाता इन नाम के अर्थ भी समझ जाएँगे। महाराणा अमरसिंह की पुत्री, प्रातः स्मरणीय वीराग्रणी प्रसिद्ध देशभक्त प्रताप की पौत्री, 'इश्क बाज़ों' के खेल खेलती फिरती है। वह हुस्न के बाजार में लुटती और लूटती फिरती है। वह एक स्थान पर कहती है—

'जनाब शाहजादा साहब! अगर नाजनियाँ नाज़ो नखरे या रुखाई जाहिर न करें तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्योंकर मालूम हो।'

ठीक, नाज़ोनखरों से इश्क की परीक्षा की जाती है। गो० जी के उपन्यासों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति पात्रों के अनुसार भाषा बदलती है। मुसलमान ही उर्दू नहीं बोलते; मुसलमानों से वार्तालाप करने वाले हिन्दू पात्र भी उर्दू का रंग चढ़ा कर हिन्दी बोलते हैं। प्रेमचन्द जी ने भी इस परम्परा को ग्रहण किया। इन उपन्यासों में चरित्र चित्रण का प्रयास नहीं। भारतेन्दु युग के समान इस उपन्यासकार ने भी भक्ति एवं रीतिकाल का सम्मिश्रण किया है। शृंगार के साथ साथ आदर्श और उपदेश का बहुत ध्यान रक्खा है। प्रत्येक उपन्यास में पर्वताकार उच्चादर्श अवश्य आ खड़ा होगा; उपदेश अवश्य दिया जायगा। प्रेमचन्द जी ने भी आदर्श का ध्यान बराबर रक्खा है, किन्तु गुप्त रूप से यथार्थ की नींव पर आदर्श-अट्टालिका खड़ी की है जो चारों ओर प्रकाश की तीव्र किरणें अपने पास से फेंक रही है। जहाँ आदर्श गुप्त रूप से अपने आप चुपके से आ खड़ा हो, वहाँ कला की उत्तमता है। किन्तु जहाँ उपदेश देने की प्रवृत्ति मुँह बाए आ खड़ी हो, वहाँ कला का वास्तविक रूप न रहेगा। गोस्वामी जी ने आदर्श के सामने कोई पर्दा नहीं रक्खा।

इसी समय हिन्दी संसार में श्री देवकीनन्दन खत्री ने चन्द्रकांता ४ भाग एवं चन्द्रकान्ता संतति २४ भाग द्वारा युगांतकाल ला दिया। यह समय ही ऐसा था कि हिन्दी में उपन्यास पाठक बनाने थे और खत्रीजी ने समयोचित चीज दी। न सही उसमें चरित्र विकास, न सही फड़कते वाक्य और

वार्त्तालाप, न सही द्वन्द्वात्मक भावों का संघर्ष; पर उनमें एक बात है, एक बड़ी विशेषता है। वह है कथानक की मनोरंजकता। बस हाथ में लेने की देर है कि आप खाना-पीना, सोना-पढ़ना सब भूल जाएँगे। ऐसा शृङ्खलाबद्ध मनोरंजक साथ ही इतना विशाल कथा क्षेत्र अन्य कोई भी उपन्यासकार नहीं दे सका है, हिन्दी में नहीं, अन्य आधुनिक सम्पन्न भाषाओं में भी। असंख्य अहिन्दी उपन्यास-प्रेमियों ने खत्री जी की 'चन्द्रकांता एवं संतति' के आकर्षण-पूर्ण अध्ययन के लिए हिन्दी सीखी। यदि प्रसिद्धि के विचार से किसी लेखक का स्थान निर्धारित किया जाय तो तुलसीदास के बाद सबसे अधिक पाठक खत्री जी के ही पाये जाएँगे। डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में 'चन्द्रकांता हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है।' खत्री जी के भूल-भुलय्या जैसे मस्तिष्क की प्रशंसा अवश्य ही करनी पड़ेगी। कहते हैं, उनका मस्तिष्क था भी ऐसा ही। रास्ता चलते एक स्थान पर बैठकर आगे की कथा लिखकर सिर पर खड़े छापेखाने के नौकर को दिया करते थे। चन्द्रकांता एवं संतति तिलिस्म और ऐय्यारों का उपन्यास है जो हमारे जीवन से दूर पृथ्वी के गर्भ में अथवा कल्पना की सीढ़ियों पर उतरता-चढ़ता चलता है।

इस तिलिस्मी वातावरण का मानवीकरण कर गोपालराम जी गहमरी हमारे सामने आए। खत्रीजी के ऐयार यहाँ गुप्तचर बन गए जिनको 'जासूस कहा गया है। तिलिस्मों का स्थान चक्करदार मकान या दूकानें ले लेती हैं। अन्यथा कौतूहल वर्द्धक घटनाएं यहाँ भी वैसी ही हैं, भूल-भुलय्या का वातावरण यहाँ भी है। यह बात अवश्य है गहमरीजी, खत्रजी की अपेक्षा वास्तविक जीवन के अधिक निकट आगए। 'लखलखा' सुँघाने वाला भूतनाथ हमारे संसार में नहीं पर रहस्यमयी मत्यु का पता लगाने वाला हाड़ माँस का पुतला-जासूस हमारे मध्य का है। इङ्गलैण्ड में फिलिप ओपेनहम, शरलाक होम्स, एडगर वैलेस इत्यादि कई प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार हो गए हैं। वहाँ ब्लेक सिरीज, सिक्सपेंस सिरीज, फोरपैंस सिरीज जैसी कम मूल्य की जासूसी पुस्तकें धड़ाधड़ निकलीं। उसी प्रकार गहमरीजी हमारे हिन्दी के जासूसी उपन्यासकारों में श्रेष्ठतम हैं जिनका पत्र 'जासूस' एवं जिनकी रोमाँच-चकारी पुस्तकें खूब बिकीं। ये उपन्यास भी घटना प्रधान थे। चरित्र विकास की ओर इनमें भी ध्यान न था। जैसे गाँव में रात्रि को एक बूढ़ा आठ बजे से ११ बजे तक घुमावदार कहानी 'अनार रानी' या 'विक्रम का तख्त' सुनाता है, उससे अधिक परिष्कृत रूप में खत्रीजी तथा गहमरी जी के उपन्यास बने।

किन्तु थे वे विस्तार प्राप्त आख्यान ही, गाँव की लम्बी कहानियों ही जैसे !

हिन्दू समाज पर तरस खाकर लज्जाराम मेहता ने कुछ उपन्यास लिखे। श्री मेहताजी सफल सम्पादक थे पर आपने उपन्यास क्षेत्र में भी टाँग अड़ाई कुछ बटोर-बटार के ऊँघे सूखे बीज बोए। फल लगे 'धूर्त रसिक लाल', हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिन्दू। पता नहीं इनके द्वारा मेहताजी हिन्दुओं का कितना सुधार कर सके, या किसे आदर्श हिन्दू बना सके, किन्तु उपन्यास साहित्य का न कुछ सुधार हुआ, न कोई उपन्यास का आदर्श ही खड़ा हुआ। वास्तव में मेहताजी में न उपन्यास लिखने की प्रतिभा थी, न शक्ति। बङ्गला उपन्यास तथा उस भाषा से अनूदित ग्रन्थों की चकाचौंध मे आकर बा० ब्रजनन्दन सहाय ने कुछ भाव प्रधान उपन्यास भी रचे। सौंदर्योपासक, राधाकाँत, राजेन्द्रमालती आदि उनके कुछ उपन्यास हैं। 'मुलम्मा' मुलम्मा है। उसी प्रकार अनुकरण कभी-कभी सफल हो पाता है। थोड़ी सी असावधानी से अनुकरण द्विगुण हानि पहुँचाता है। पश्चिम के अनुकरण के भ्रामक बवण्डर में पड़े बहुत से भारतीय अपना पन भी भूल बैठे थे। ब्रजनन्दनसहायजी के ये उपन्यास भी नितान्त असफल रहे। उपन्यास का प्रधान तत्व—मनोरंजक कथानक इनमें दिखाई ही नहीं पड़ता। घटनाओं का बड़ा अभाव है। यहाँ तो एक सौन्दर्य प्रेमी का मन घबड़ाता, चिहुँकता, रोता, कलपता, टीसमारता, तड़पता फिरता है। मन को भावुकता का ही प्रदर्शन है। स्वयं लेखक भी इस बात को जानता था कि मेरे उपन्यास जनता को अच्छे न लगेगे। सौंदर्योपासक के उपसंहार मे वह लिखता है कि "जनता का रजन इससे अधिक न होगा।' फिर लिखा क्यो ? उसी भावना से जैसे कई तुक्काड़ आज भी समझते हैं कि हमारी कविताएँ तुलसी से अधिक लोकमङ्गलकारी और सूर से अधिक लोक रंजक होगी।

इसके पश्चात हमारे हिन्दी उपन्यास का स्वर्णयुग आता है। इस भव्य एवं गौरवशाली युग का निर्माता है एक महान व्यक्ति जिसकी टक्कर का उपन्यासकार अभी तक तो हिन्दी माँ की कोख से जनमा नहीं, जिसकी यश भित्ति पर हमारा मान मन्दिर बन रहा है, जिसके नाम पर हमें गर्व है, जिसके बल पर हमारा मस्तक ऊँचा है। वह है हमारा औपन्यासिक सम्राट स्व० प्रेमचन्द जिनके विषय मे जैनेन्द्रजी कहते हैं "प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक हैं''' मैं फिर भी प्रेमचन्द जी को हिन्दी का नही संसार का लेखक मानता हूँ।"

प्रेमचन्दजी ने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से कुछ लिया और पर-वर्ती औपन्यासिकों को कुछ दिया। बा० देवकीनन्दन के सदृश उन्होंने अपने उपन्यासों को विस्तार दिया। खत्री जी तथा गहमरी जी की नाईं अपने उपन्यासों को घटना-प्रधान बनाकर मनोरंजकता भी भरी। पारसी थियेटर नाटकों में दो कहानी समानान्तर चलती थी, एक गम्भीर और एक हास्यरस की। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी दो कथाएं चलती हैं तथा पारसी थियेटर-नाटकों के समान इन दोनों कहानियों का सम्बन्ध बहुत क्षीण है। बंगला की सस्ती भावुकता से उन्होंने हिन्दी का पीछा अवश्य छुड़ाया था, किन्तु चित्रों को कहीं-कहीं भावुकता अवश्य दी और सुन्दर बनाया। किशोरी लाल गोस्वामी के खुले शृंगार को तो नहीं अपनाया किन्तु प्रत्येक उपन्यास में प्रणय को अवश्य प्रमुखता दी। उनका प्रत्येक उपन्यास एक वा अधिक प्रणय गाथाओं से भरा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए कई भाषाओं का प्रयोग किया। किशोरीलाल गोस्वामी तथा पारसी थियेटर नाटकों में हिन्दू मुसलमानों की बोली में भिन्नता थी। इसी भिन्नता को प्रेमचन्द जी ने स्थिर रक्खा। उनके मुसलमान पात्र यह भाषा बोलते हैं—"जब से हुज़ूर तशरीफ ले गए, मैंने भी नौकरी को सलाम किया। जिन्दगी शिकम पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन कौम की खिदमत करूँ। इसी गरज से 'अंजुमन इत्तहाद' खोल रक्खी है।" (प्रेमाश्रम)

उनका हिन्दू कहता है—'भाई मैं प्रश्नों का कायल नहीं। मैं चाहता हूँ हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं।' (गोदान)

उन्होंने परवर्ती उपन्यासकारों से जितना लिया उससे अधिक दिया। प्रेमचन्द जी का आदर्श सामने रख हिन्दी के सैकड़ों लेखक अच्छे उपन्यासकार बन गए। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा चतुर्सेन शास्त्री ने उनकी शैली को अपनाया। वृन्दावनलाल वर्मा ने उनकी वर्णन-पद्धति को ग्रहण किया। भगवतीचरण वर्मा ने उनके समान 'समस्याएँ' सामने रक्खीं, हाँ उनके सुलझाने के मार्ग में वे दूसरी ओर गए। सुदर्शन जी, अश्क जी आदि अनेक लेखकों ने उनकी भाषा का आदर्श मान लिया। हिन्दी में आदर्श पूरक उपन्यास अधिक मात्रा में आए। यहाँ प्रेमचन्दजी के प्रभाव ने भी बड़ा काम किया। अनेक नवयुवक उनके उपन्यासों व कहानियों को पढ़कर कुछ लिखने बैठ गए।

प्रेमचन्दजी की अपनी देन हिंदी को बहुत बड़ी है। उन्होंने अपूर्ण 'मङ्ग-लसूत्र' सहित १२ उपन्यास दिए। ११ की संख्या खत्री जी या गोस्वामी जी के सामने कुछ नहीं। मात्रा का मूल्य नहीं मूल्य है उन उपन्यासों की गरिमा का। हिन्दी ही नहीं भारत के वे सबसे पहिले उपन्यासकार थे जिन्होंने नाग-रिक जनता का ध्यान ग्राम्यजीवन की कठिनाइयों की ओर आकर्षित किया। हिन्दी में प्रेमचन्दजी के समय तक धार्मिक तथा सामाजिक उपन्यास बन चुके थे। प्रेमचंदजी पहिले लेखक थे जिन्होंने राजनीतिक उपन्यास इतनी प्रचुरता से लिखे। उस समय तक कृषकों की दयनीय दशा का चित्रण न हुआ था। प्रेमचंदजी ने अपनी सजीव तथा मनमोहक लेखनी से कृषकों की बाह्य तथा आंतरिक दशा का पूर्ण चित्र उतारा; उनकी जीवन सम्बंधी प्रायः सभी समस्याओं को सामने लाए; जमींदार, महाजन एवम् राज्यकर्मचारी के असह्य अत्याचारों का ढिंढोरा पीटा; पण्डा, पुजारी, उच्चवर्गीय गाँव के महापुरुष सामाजिक मटमानी—सबों का पर्दा फास किया तथा ग्रामीणों की पारस्परिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा धार्मिक त्रुटियों की ओर ध्यान खींचा। यही प्रेमचंदजी की की विशेषता है। इसके साथ हिंदू समाज की सभी बुराइयों को भी लिया। दहेज, विधवा विवाह, मूर्तिपूजा, ऊंच-नीच का भाव, अनमेल विवाह, अंध विश्वास, परम्परा मोह, कौटुम्बिक कलह, अशिक्षा, आधुनिक शिक्षा, खान पान में छूत, विघ्र भय, ज्योतिष इत्यादि असख्य समस्याएं सामने लाए हैं। आज की महाजनी सभ्यता को भी भूले नहीं हैं जिसकी नींव है यंत्रीकरण गाँव के किसान मजदूर जन किस किस प्रकार इस यन्त्रीकरण से नष्टभ्रष्ट कर दिये जाते हैं, यह रङ्ग-भूमि में अच्छी प्रकार प्रदर्शित किया।

प्रेमचन्द जी से पूर्व के उपन्यासों में 'नाटकत्व' को मात्रा बहुत ही कम थी। प्रेमचंद जी ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उनके पात्र मनोवैज्ञानिक हैं हमारे संसार के। प्रेमचन्द जब स्वयं लिखते हैं—"मैं उपन्यास को मानव जीवन—का चित्र मात्र समझता हूं", तब उनसे यही आशा थी कि वे यथार्थ जीवन हमारे वास्तविक जीवन की पूर्ण झाँकियाँ दिखायेंगे। सौभाग्य से हुआ भी ऐसा ही। प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों का विस्तृत, गौरवान्वित एवम् आकर्षक भवन यथार्थ की भित्ति पर खड़ा किया। किंतु यह नग्न यथार्थ न था। कोरा यथार्थ हमारे जीवन के लिए हितकारी नहीं। "अमंगल यथार्थ अग्राह्य है, मङ्गलमय यथार्थ संग्रहणीय है यदि वह अपवाद रूप भी हो" यह प्रेमचंद जी का दृढ़ सिद्धांत था। अतः उन्होंने यथार्थवाद में आदर्शवाद का

मिश्रण कर उसे मङ्गलमय बना दिया। उनका यथार्थवाद अंत में एक गंतव्य स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ परम पावन, मङ्गलकारी, सुख शाँति दाता 'आदर्श' देव बैठा है ! यही प्रेमचन्दजी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद गोदान जैसे यथार्थवादी उपन्यास में भी यह आदर्शवाद का ऋषि समाज की मङ्गल कामना से आ छिप बैठा है। अनेक समालोचकों ने प्रेमचन्द्र जी की आदर्श वादिता पर आक्षेप किये हैं। कोई उन्हें उपदेशक बताता है, तो कोई प्रचारक कह उनके ऊपर कीचड़ उछालता है, कोई आदर्श भावना पर कठोर आघात करता है, तो कोई उन्हें 'भूतकालवासी' कह खिल्ली उड़ाता है। इन समालोचकों के मत में यदि प्रेमचन्द्र जी में आदर्श स्थापना की हठ न होती तो बहुत उत्तम होता। श्री लक्ष्मीसहाय सिनहा (सा० संदेश जुलाई ४८) प्रेमचन्द के आदर्शवाद पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं—प्रेमचन्द की यथार्थवादिता उनके आदर्शवाद का पोषक बनकर उनकी कला को सजीवता देने में समर्थ रही, इसमें बहुत संदेह है। किंतु यदि प्रेमचन्द में से आदर्शवादिता निकाल दीजिए, प्रेमचन्द न रहेंगे जिस प्रकार तुलसी में भक्ति और सामाजिक धर्म निकाल देने से कुछ नहीं बचता। प्रेमचन्द की यथार्थवादिता के पीछे छिपी आदर्शवादिता ने ही उन्हें एक विशेष स्थान दिया, जिस प्रकार टालस्टाय को मिला। प्रेमचन्द रवीन्द्र तथा टालस्टाय की श्रेणी के लेखक हैं, शरत तथा डिकेंस की कोटि में प्रवेश नहीं करते। यही भारतीयता है और यही है प्रेमचन्द वादिता। प्रेमचन्द ने हिंदी का मस्तक उन्नत किया। संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में उनका स्थान है और हिंदी के ज्ञान-विस्तार के साथ वह पद ऊंचा ही होता जायगा।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिंदी उपन्यास क्षेत्र में उपन्यास-कहानियों की बाढ़ सी आगई। आज सबसे अधिक लेखनी की गति उपन्यास-कलेवर पर वेगवान है। उपन्यासकार बरसाती कृमि के समान बढ़ गये हैं। यह बड़ा शुभ लक्षण है। आज का हिंदी साहित्यिक उपन्यास लेखक बनने का लोभ संवरण करने में कठिनता पाता है। प्रसाद ने उपन्यास लिखे। कवि तथा नाटककार भट्ट जी ने भी एक उपन्यास लिखा है। कविवर मोहनलाल महतो वियोगी इस दिशा में कई पुस्तक लिख चुके हैं। नाटककार गोविंदवल्लभ 'पंत' ने उपन्यासों द्वारा माँ की सेवा की है। इलाचंद्र जोशी, सुमित्राकुमारी सिनहा, निराला जी, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त आदि अनेक कवि हैं जो उपन्यास क्षेत्र में भी पग बढ़ा रहे हैं। इससे उपन्यास प्रियता का अनुमान हो सकता है।

पर प्रश्न है, आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य का मूल्य क्या है? उप-न्यास प्रगति पथ पर अग्रसर है या नहीं? क्या प्रेमचन्दजी का स्थान रिक्त ही रहेगा? हमारा उपन्यास-साहित्य प्रगति पथ पर है, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं। प्रेमचन्दजी के स्थान की पूर्ति करने वाला उपन्यासकार अभी तक तो नहीं दिखाई दिया किंतु भविष्य उज्ज्वल है। आज अनेक उपन्यासकार आगे बढ़ रहे हैं। आज के उपन्यास युग का सार्थक नाम होगा 'वर्मा युग'। वर्मा बन्धु आज के उपन्यास संसार में सबसे अलग खड़े दीप्ति बिखेर रहे हैं। वे हैं 'वृन्दावनलाल वर्मा' तथा 'भगवतीचरण वर्मा'। वृन्दावनलाल वर्मा में चित्रण शक्ति बड़ी प्रबल है। उन्होंने ऐतिहासिक रोमांच लिखे हैं। उनके 'गढ़ कुण्डार' पर पुरस्कार मिल चुका है। उनके ऐतिहासिक रोमांच हिन्दी की एक बड़ी कमी को पूरा कर रहे हैं। इनके उपन्यास बड़े लोकप्रिय हैं। प्रेमचन्द जी-सी 'उच्च वर्णन शक्ति', रोचक कथानक एवं उत्तम चरित्र-चित्रण के साथ यदि भाषा की प्रवाहमय प्रबल शक्ति भी साथ होती तो सोने में सुहागा मिल जाती। भगवतीचरण वर्मा ने दूसरा क्षेत्र ग्रहण किया है। वे समस्या-मूलक उपन्यास लिख रहे हैं। जीवन की सार्वभौम सामाजिक (पाप-पुण्य) तथा राजनैतिक (गाँधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद) समस्याओं की अपने ढङ्ग से व्याख्या कर चुप हो जाते हैं। हमें आशा है कि शैलीकी अधिक प्रौढ़ता तथा विचारों की अधिक स्पष्टता के साथ लेखक की तीन वर्ष की भूमिका में की गई आशा ("संसार के सर्व-श्रेष्ठ उपन्यासकारों में गणना") पूरी होगी।

शैली की दृष्टि से 'उग्रजी' ने हिन्दी जगत में भूकम्प ला दिया था। यदि 'उग्रजी' अंग्रेजी के 'रेनाल्ड' का अनुगमन कर समाज के अश्लील भाग पर दृष्टि न डालकर, 'महात्मा ईसा' तथा 'चिनगारियों' की क्यारियाँ सजा पाते तो [illegible] सम्भवतः वे हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में स्थान पा गए होते। इसी प्रकार श्री चतुरसेन जी शास्त्री ने सुन्दर भाषा में सरल प्रवाह से मनोरंजक उपन्यास लिखे। यदि अधिक सफल हो शास्त्रीजी नागरिक विशे-षताओं को पनपने देते तो बड़ा उपकार होता। जैनेन्द्र जी अपनी अलग सत्ता [illegible] उपन्यास जगत को [illegible] दे रहे हैं। उनके उपन्यासों में [illegible] नहीं। वे 'मनोवैज्ञानिक' उपन्यास हैं। मानवी प्रकृति के निरीक्षण पर उनका ध्यान रहता है। प्रेमचन्दजी ने भी जैनेन्द्रजी की इस [illegible] किया था। हिन्दी उपन्यास के एक [illegible] की पूर्ति जैनेन्द्रजी

उद्योग के साथ कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक उपन्यासकार आज हिन्दी माँ का आँचल अपने अपने दृष्टिकोण से भर रहे हैं। उनमें कई उच्चस्थान पर आ विराजे हैं। रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, राधिकारमण प्रसादसिंह, सर्वदानन्द वर्मा, यशपाल, अज्ञेय आदि अनेक लेखक हमारी भविष्य आशाओं का प्रदीप बन रहे हैं।

श्री दीनदयालु शास्त्री

एक भाषा और लिपि का प्रश्न

हमारे देश की भिन्न भिन्न प्रचलित बोलियों की संख्या न जाने कितनी हैं किन्तु आसाम, बिहार और उड़ीसा के कुछ पहाड़ी प्रदेशों को यदि न गिने तो बाकी सारे देश में बोली जाने वाली मुख्य भाषाएँ लगभग एक दर्जन हैं। इनमें से चार भाषाओं आसामी, पश्तो, काश्मीरी व सिन्धी के बोलने वालों की संख्या लाखों में ही सीमित है किन्तु आसाम, सीमाप्रान्त, व काश्मीर प्रदेशों की मातृभाषा होने के कारण ये मुख्य हो गयी हैं। आसामी, पश्तो तथा सिन्धी अपने-अपने प्रदेश की अदालती भाषाएं हैं और उनका साहित्य भी है। काश्मीर की भाषा काश्मीरी है। इसमें प्राचीन साहित्य तो अवश्य है किन्तु आजकल न तो वह वहाँ की राजभाषा है और न साहित्य की। अब तो काश्मीर में उर्दू-हिन्दी का ही बोल-बाला है।

देश की अन्य चार भाषाओं मलयालम, उड़िया, गुजराती व कानड़ी के बोलने वालों की संख्या एक-एक करोड़ से अधिक है और इनका अपना सुन्दर साहित्य भी है। शेष भाषाओं में से तामिल, तेलगू व मराठी के उपासक लोग क्रमशः दो दो करोड़ से अधिक हैं। बंगला भाषा हमारे देश के सात छः करोड़ निवासियों की मातृ-भाषा है और बहुतों की राय में इसका साहित्य हमारे देश की भाषाओं में सर्वोत्तम है। देश की सर्वाधिक प्रचलित भाषा यह मातृभाषा है और इसके समझने वाले २५ करोड़ से भी अधिक हैं। भाषा की दृष्टि से पंजाब की समस्या बड़ी विकट है। इसके पूर्वी भाग में हिन्दुस्तानी बोली जाती है, मध्य भाग में पंजाबी और पश्चिमी भाग में हिन्दी या लहंदा। पंजाबी भाषा हिन्दी का ही एक परिवर्तित रूप है। और सिक्खों के अतिरिक्त पंजाब की अन्य जनता पढ़ने-लिखने में उसका अधिक प्रयोग नहीं करती। स्वयं सिक्ख भी व्यवहार में उर्दू या हिन्दी को प्रमुखता देते हैं हिन्दी या लहंदा को तो सिख भी अपनी मातृभाषा नहीं मानते। ऐसी हालत में यदि हम पंजाब को भी हिन्दी का ही प्रदेश मान लें तो हिन्दी भाषाभाषी जनता १७ करोड़ हो जाती है।

नागरी या रोमन लिपि

हमारे देश की इन बारह-तेरह भाषाओं की यदि लिपि एक होती तो यूरोप की भाँति यहाँ भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के पढ़ने की सुविधा रहती, किन्तु दुर्भाग्यवश इन भाषाओं की लिपि भी अलग हैं। हिन्दी व मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। बंगला, गुजराती, गुरुमुखी (पंजाबी) उड़िया व आसामी लिपियों का भी आधार नागरी लिपि है, भेद है केवल रूप का। इन सब भाषाओं में अक्षर वही हैं जो नागरी लिपि में हैं किन्तु उनकी बनावट में थोड़ा भेद हो गया है। मूल में वे एक ही हैं। यही कारण है कि नागरी लिपि जानने वाला व्यक्ति इन लिपियों को सरलता से पढ़ लिख सकता है। इनमें से बंगला, आसामी व उड़िया में से तो अत्यधिक साम्य है, खासकर पहली दो में दक्षिण भारत की चार भाषाओं तामिल, तेलगू कनाड़ी और मलयालम के मूलाधार भी नागरी अक्षर हैं। किन्तु इनमें एक तो अक्षर अपेक्षाकृत कम हैं, दूसरे ध्वनि वही होते हुए भी उनकी बनावट या रूप इतना भिन्न है कि नागरीलिपि से अभिज्ञ व्यक्ति दक्षिण भारत की इन लिपियों को नहीं पढ़ सकता। इनमें तेलगू और कनाड़ी की लिपि एक है और तामिल और मलियालम की एक है। हमारी नागरी लिपि की वर्णमाला को लंका, बरमा व तिब्बत ने भी अपनाया है किन्तु उन्होंने भी अक्षरों के निर्माण में अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन कर लिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे देश की अधिक भाषाओं और पड़ोसी देशों की भाषाओं की लिपि का आधार देवनागरी अक्षर हैं। यदि हमारे देशवासी एकत्र होकर इन भिन्न-भिन्न लिपियों के स्वरूप को छोड़कर कोई एक लिपि स्वीकार कर लें तो इन बारह पन्द्रह भाषाओं में बहुत कुछ साम्य व सामंजस्य स्थापित हो सकता है। पहले यूरोप में भी अनेक लिपियाँ प्रचलित थीं किन्तु वहाँ के लोगों ने अपना आग्रह छोड़कर सुविधा की दृष्टि से रोमनलिपि को अपनी भाषा का आधार मान लिया है। इससे उस देश में भाषा-भेद होते हुए भी प्रेस व टाइप की सर्वत्र समानता है और प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न भाषाओं का आसानी से प्रकाशन हो जाता है। यही नहीं—अब तो यह रोमन लिपि यूरोप से बाहर निकल कर अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में भी सर्व-मान्य हो रही है और हमारे पादरी हमारे देश में भी इसे अपनाने लगे हैं। यूरोप के अनुकरण में यदि हमारे देशवासी नागरी या उस पर अवलम्बित किसी लिपि को अपनी भाषाओं के लिए अपना लें तो बड़ा लाभ हो सकता

है। यदि यह न हुआ तो अन्य देशों की भांति रोमनलिपि यहाँ भी आ धमके तो इसमें हमें अचरज न मानना चाहिए।

अरबी लिपि

नागरी लिपि या उससे सम्बद्ध लिपियों के अतिरिक्त हमारे देश में एक अन्य लिपि का भी प्रचलन है। वह लिपि है अरबी की। मध्य-युग में अफ-गान व मुगल विजेता इसे यहाँ लाये और अब उर्दू, सिन्धी व पश्तो की यह चालू लिपि है। सम्भव है कि आगे जाकर काश्मीरी भाषा के हिमायती भी इस लिपि को अपना लें। कारण यह है कि काश्मीरी भाषा के बोलने वालों में ९५ प्रतिशत लोग इस्लाम के मानने वाले हैं और इस्लाम के लिए अरबी लिपि सर्वमान्य है। सिन्ध व सीमाप्रान्त के अधिक निवासी मुसलमान हैं अतः वहाँ की भाषाओं ने भी इस अरबी लिपि को आधार बनाया है। सिंधी, पश्तो व उर्दू लिपियों में स्थानीय सुविधाओं के कारण काफी भेद भी हो गया है किन्तु उनका मूल एक है। सिंध में इस लिपि का प्रचलन वहाँ के मुसलमानों के द्वारा नहीं हुआ अर्थात् हिन्दुओं के द्वारा हुआ है। अँग्रेजों के आने से पहले सिंध में मुसलमान अमीरों का राज्य था किंतु इनके दीवान अथवा दरबारी लोग प्रायः आमिल जाति के हिंदू होते थे। उन दिनों सिंध की राज-भाषा सिंधी न होकर फारसी थी किंतु सामान्य जनता नागरी या मुण्डी लिपि में सिंधी भाषा पढ़ती थी। अङ्गरेजी राज आने पर सिंध की अदालती भाषा सिंधी रखने का निर्णय हुआ। सवाल यह आया कि सिंधी भाषा लिखी किस लिपि में जाय। सरकारी अफसर आम जनता को मुण्डी या हिन्दी में लिखते देखते थे, अतः सिंधी भाषा को नागरी लिपि में रखना चाहते थे किंतु प्रमुख आमिल लोग नागरी के नहीं, अरबी फारसी के वेत्ता थे। उनके आन्दोलनों से सिंधी भाषा ने अरबी जामा पहन लिया और वह देश की अन्य भाषाओं से पृथक् हो गयी। आज यदि सिंध की लिपि भी नागरी होती तो हमारे देश की भाषा-समस्या अधिक आसान रह सकती। उस हालत में केवल पश्तो व उर्दू का ही आधार अरबी लिपि होती। इनमें पश्तो सीमाप्रांत के पठानों की भाषा है। ये पठान हमारे देश में कम और पड़ोसी अफगानिस्तान में अधिक संख्या में आबाद हैं; अतः राष्ट्रीयता के आधार पर कभी भी भारत को छोड़ कर अफगानिस्तान में समा सकते हैं। उस हालत में केवल उर्दू ही अरबी लिपि में होने के कारण नागरी लिपि का मुकाबला न कर सकती किंतु दुर्भाग्य

से या सौभाग्य से यह अरबी लिपि देश की एक नहीं अनेक भाषाओं की मिलकियत है। अतः देश की ही लिपि है, हमें यह मानना चाहिए।

हिंदी उर्दू का सवाल

नागरी लिपि में ही हिंदुओं के धर्म ग्रन्थों की मूलभाषा संस्कृत का लेखन होता है अतः नागरी लिपि या उससे सम्बद्ध भाषाएँ अपना शब्द भण्डार संस्कृत से भरने में सुविधा मानती हैं। इसी प्रकार अरबी लिपि में मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ हैं अतः अरबी लिपि से सम्बद्ध भाषाएँ अरबी भाषा से अपना शब्द भण्डार भरने में सुविधा पाती हैं। यही कारण है कि हमारे देश की भाषाओं की स्पष्टतः दो धाराएँ हो गई हैं। एक जो संस्कृत मूलक हैं और दूसरी वे जो अरबीमूलक हैं। संख्या की दृष्टि से इनमें संस्कृत मूलक भाषाओं के वक्ता या लेखक अधिक हैं और अरबी मूलक भाषाओं के कम। यह बहु-संख्या या अल्पसंख्या भी हमारे देश के संघर्ष का एक मूल आधार है। वैसे तो हमारे देश की अधिक भाषाएँ संस्कृत मूलक हैं और देव नागरी या उससे सम्बद्ध लिपि में ही लिखी जाती हैं। इनके मुकाबले में अरबी मूलक भाषाएँ केवल दो हैं—सिंधी और पश्तो। इन दोनों के बोलने या पढ़ने वालों की कुल संख्या अस्सी लाख है अतः बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक का विकट प्रश्न हमारे सामने न आना चाहिये। किन्तु भाग्यवश देश के मध्य भाग में एक ऐसी भाषा है जिसके बोलने वाले पन्द्रह करोड़ हैं और यह नागरी व अरबी दोनों लिपि में लिखी जाती है। इस भाषा का ही नाम हिंदी, उर्दू या हिन्दुस्तानी है। हमारे देश के अधिकाँश नेता इस भाषा को देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व

लेखक वह भी कहला सकते हैं जिनका लिखना उनके घर तक या मित्रों तक रह जाता है। पर आधुनिक लेखक से मतलब केवल उन्हीं लेखकों से है जिनका लिखा सर्वसाधारण तक पहुँच जाता है। इसमें भी कई श्रेणियाँ हैं। सब के अलग-अलग ढंग के कार्य हैं, अलग-अलग ढंग के प्रभाव हैं। प्रेस आज का सबसे अधिक शक्तिशाली यन्त्र है। तुलसीदास जी ने तीर्थ वारि का माहात्म्य वर्णन करते समय लिखा था कि इसमें स्नान करके काक पिक हो जाया करते हैं और बक मयूर हो जाते हैं। प्रेस वह गंगा है जिसमें स्नान करने के बाद व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाया करते हैं। एक बार जो बात प्रेस रूपी गंगा में स्नान करके निकली वह 'पब्लिक' बन गई। प्रेस व इस महिमामयी शक्ति को आजकल सर्वत्र बहुत महत्त्व दिया जाने लगा है। शक्तिशाली सरकार प्रेस से त्रस्त रहा करती है और सब समय सतर्कता के साथ नियन्त्रण करती रहती है।

स्पष्ट है कि लेखक का कार्य सामाजिक उत्तरदायित्व का कर्तव्य है। लेखक के विचारों की अच्छाई या बुराई प्रभावित करती है। जन चित्र को प्रभावित, आन्दोलित और चालित करने वाली जितनी भी संस्थाएँ आधुनिक समाज को ज्ञात हैं—समाचार पत्र, सिनेमा, विश्वविद्यालय, अदालतें, व्यवस्थापिका सभाएँ—सबको लेखक के क्रियात्मक सहयोग की जरूरत पड़ती है। सबको लेखन कार्य से पोषण मिलता है। वस्तुतः संसार जितना भी आगे बढ़ता है या पीछे हटता है, उलझता है या ठिठकता है, सबका प्रधान उत्तरदायित्व लेखकों पर है। स्पष्ट है कि यह उत्तरदायित्व बहुत व्यापक और महान् है।

लेखकों की दो श्रेणियाँ हैं। एक वे हैं जो ज्ञान की शास्त्रीय व्याख्या करते हैं। अधिकतर उनकी कृतियाँ विशेषज्ञों के हाथ में जाती हैं जो धीर भाव से, ठण्डे दिमाग से इन कृतियों की परीक्षा कर सकते हैं। परन्तु कुछ दूसरी श्रेणी के लेखक हैं जो साधारण पाठक के भावावेग को और उनके ऊपरले

स्तर की और गहराई की चित्तवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं और अपने विचार इसी माध्यम से जनचित्त में संचारित करते हैं। पहली श्रेणी के लेखक समाज के लिये उतने खतरनाक नहीं होते जितने दूसरी श्रेणी वाले, क्योंकि विशेषज्ञ को सहज ही धोखा नहीं दिया जा सकता और धीर भाव के विवेचक को उत्तेजित नहीं किया जा सकता। दूसरी श्रेणी के लेखक संसार को अधिक प्रभावित करते हैं और इसीलिये वे बहकने पर अधिक भयंकर और ढंग पर चलने पर अधिक उपकारक हो सकते हैं। साधारण भाषा में इस श्रेणी के लेखक को 'साहित्यिक' कहा जाता है। समाज के सम्बन्ध में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व इन्हीं लेखकों का है क्योंकि इनका प्रभाव साक्षात् प्रवर्तित होता है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं वह इतिहास के अन्यान्य युगों से बहुत भिन्न है। वैज्ञानिक साधनों ने इसे ऐसी अनेक विशेषताओं से संवाचित किया है जो पुराने युगों में अपरिचित थीं। आज के युग में किसी बात के प्रचारित होने में देर नहीं लगती। आज न्यूयार्क में सभा बैठती है कल मास्को की आँखें चौकन्नी हो उठती हैं। नाना स्वार्थों का ऐसा अनवरत संघर्ष चल रहा है कि सब कामों में फुर्ती और क्षिप्रकारिता का जोर बढ़ गया है। दुर्भाग्यवश गलत बातें ज्यादा फैल जाती हैं। चारों ओर संदेह का वातावरण है। संदेह मनुष्य चित्त का सबसे विकृष्ट भेदक शस्त्र है। एक बार जब यह मन में घर बना लेता है तो मनुष्य हर बात में षडयन्त्र का आभास पाने लगता है। इस समय राष्ट्रों के चित्त में वही सन्देह घर बना बैठा है। प्रत्येक बात में कोई न कोई उद्देश्य खोजा जाता है। एक राष्ट्र यदि दूसरे के साथ हाथ मिलाता है तो तीसरे का हाथ अचानक तलवार की मूठ पर जा बैठता है। ऐसे शङ्का और सन्देह के वातावरण में कोई बड़ी साधना हो ही नहीं सकती। यह कुछ ऐसा 'दिनन का फेर' है कि 'चुप बैठना' ही उचित सलाह जान पड़ती है। चारों ओर सशंक दृष्टि, चारों ओर भयत्रस्त चेहरे, सर्वत्र षडयन्त्र की गंध—ये बातें मनुष्य के सभी व्यवहारों को अन्त तक संदिग्ध और भयंकर बना देती हैं। यह ऐसा दही है जिसमें जितना भी दूध डालो दही होता जायगा।

इसमें ऐसे लेखक हैं जो दूसरों का दोष रस लेके लिखते हैं। दोष को रस लेके लिखने का सबसे बड़ा खतरा यह नहीं है कि लेखक दोष को दोष के रूप में चित्रित कर रहा है। यह तो कोई हानि की बात नहीं है। हानि है लेखक की आसक्त दृष्टि। कोई जब दोष में रस लेने लगता है तो असल में उसकी दृष्टि में आसक्त अतएव मोहाविष्ट हो जाती है और वह अनासक्त

भाव से सचाई को नहीं देखता। प्रत्येक जाति के संस्कारों में दूसरी जाति वाले को कुछ ऐसी बातें दिख जाती हैं जो उसे अच्छी नहीं लगतीं। उस पर ठंडे दिमाग से विचार किए बिना अनर्गल लेखनी चलाना अनुचित है। ऐसे विदेशी लेखक जो इस देश को क्षुब्ध करने वाली पुस्तकें लिखते हैं, आदर्श नहीं हैं। क्योंकि उन्होंने सचाई को ठीक ठीक नहीं देखा। उनकी दृष्टि गन्दगी तक जाकर रुक गई। विशाल प्रासाद में केवल मोरियों की ही ओर देखना, सही देखना नहीं है। ऐसा देखने वाला अच्छे उद्देश्यों से चालित नहीं होता। वह दोषी को बदनाम करके कुछ अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। जब बात-बात में गलत-फहमी फैलने का अन्देशा हो, तब लिखने वालों को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए।

प्रत्येक लेखक से संसार की नीति के प्रभावित होने की सम्भावना बराबर नहीं है। कोई कम प्रभावित करता है कोई अधिक। किन्तु प्रभावित सभी करते हैं। यह समझना भूल है कि जिसकी रचना कम लोग पढ़ते हैं, वह उत्तरदायित्व का पालन ठीक-ठीक नहीं भी करे तो कोई हर्ज नहीं है। इस क्रम संकोचनशील जगत् में एक आदमी को गुमराह करने से भी कभी-कभी भयङ्कर हानि की सम्भावना होती है। एक आदमी को भी अगर ठीक से सही रास्ते पर लगा दिया जाय तो संसार का असीम उपकार होगा। यह समझना कि हमारा प्रभाव-क्षेत्र कम है या छोटा है, अतएव हमारा उत्तरदायित्व भी कम है या छोटा है, गलत समझना है। छोटा लेखक हो या बड़ा, समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व वही है। उसे संसार की वर्तमान समस्याओं को ठीक ठीक समझना चाहिए और शान्त चित्त से सोचना चाहिए कि मनुष्य को मनुष्यत्व के लक्ष्य तक ले जाने में कौन-कौन सी शक्तियाँ सहायक हैं और कौन-कौन सी बाधक। फिर उसे सहायक शक्तियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनी चाहिए और बाधक तत्त्वों के प्रति विरक्ति।

इधर यह कहा जाने लगा है कि लेखक को ज्ञान की साधना ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से ही करनी चाहिए। कला कला के लिए है, साहित्य साहित्य के लिए है—इनका और कोई प्रयोजन नहीं है, इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि जब साहित्य-लेखक साहित्य लिखने लगे तो उसे केवल साहित्य के नियमों और रूढ़ियों का ध्यान रखना चाहिए, दुनियाँ के और झमेलों में नहीं पड़ना चाहिए। और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि लेखक मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाने का प्रयत्न करे। यह तो वांछनीय ही

है, पर वह कल्याणवाद लेखक के लेख के ऊपर ऊपर उतराता न रहे बल्कि सरस भंगिमा के नीचे दबा रहे, प्रवाह में घुला रहे। जिस प्रकार माता का दूध बच्चे के लिये हितकारक तो है पर यह हितकारिता ऊपर ऊपर उसमें उतराती नहीं रहती, दूध के माधुर्य में, तारल्य में, सहजपचयता में घुली मिली रहती है। बच्चे को यह पता भी नहीं चलता कि वह पुष्टिकारक रस पी रहा है। उसे तो केवल माधुर्य ही उसकी ओर आकृष्ट करता है। साहित्य में भी हितकारिता इसी प्रकार घुली-मिली हो, तो उत्तम हो।

दूसरी व्याख्या अच्छी है परन्तु पहली व्याख्या गलत है। क्योंकि उसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेखक को इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिए कि समाज बनता है या बिगड़ता है—या कम से कम समाज जैसा है वैसा ही उसे स्वीकार कर कुछ रस सर्जना करते रहना चाहिए। यह गलत बात है। समाज की गतिशीलता का बना रहना अच्छा है। प्रवाह सर्वत्र शोधक शक्ति का काम करता है। नदी में, जीवन में भी, समाज में भी और साहित्य में भी। प्रवाह के रुद्ध होने से नदी का पानी सड़ने लगता है और भयङ्कर जहरीले कीटाणुओं से भर जाता है। समाज का भी प्रवाह बन्द हो जाय, गति रुक जाय तो सड़ान पैदा हो जाती है। इसलिये समाज के प्रवाह को बनाए रखना आवश्यक है। यदि नित्य विचारों द्वारा समाज में गतिशीलता नहीं लाई जायेगी तो उसका भी रुद्ध गति होकर विकृत हो जाना जरूरी है। इसलिए यह तर्क बिल्कुल निस्सार है कि समाज से हमें कोई मतलब नहीं। हमने शुरू में ही यह देखा है कि लिखना इन दिनों एक सामाजिक कर्तव्य हो गया है। सामाजिक कर्तव्यों से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।

समाज में बहुत सी विषमताएँ हैं। बहुत सी विषमताएँ मनुष्य में प्रकृति-दत्त हैं। वे तो रहेंगी ही परन्तु हर व्यक्ति को विकसित होने का समान अवसर मिलना चाहिए जो इन दिनों नहीं मिल रहा है। इस विषमता के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। जो दबाए गये हैं, दलित हैं, वंचित हैं; वे तो इस व्यवस्था से कष्ट पाते ही हैं, जो दबाने वाले हैं वे भी कष्ट पाते हैं। शस्त्रीकरण और व्यवस्था के नाम पर संसार भर में लाखों-करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं, प्रत्येक देश की सरकार सुरक्षा के लिये कोटि-कोटि रुपये खर्च कर रही है। ये व्यवस्थाएँ अपने पेट में भयङ्कर विस्फोटक और महा अनर्थकारी युद्ध लेकर अवतीर्ण हुई हैं। यदि तह में जाकर देखा जाय तो

सब द्वन्द्वों की जड़ में अनर्थकारी विषमताएं हैं।

और देशों में तो राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ ही हैं परन्तु हमारे देश मे सामाजिक विषमता भी बड़े ही भयङ्कर रूप मे विद्यमान है। कभी-कभी तो ऊपरले स्तर के लोगों में भी यह विषमता भयङ्कर रूप से उपस्थित रहती है। इसने हमारे देश की सामाजिक शक्ति को खण्डविच्छिन्न और असंहत बना दिया है। यह अत्यन्त सन्तोष की बात है कि पिछले खेवे के हमारे साहित्यकारों ने इस विषमता पर कस के आघात किया है और उसकी रीढ़ तोड़ दी है। पर टूटी रीढ़ लेकर भी यह कमबख्त जी रही है। सीधी तो नहीं खड़ी हो सकती पर सरक कर अब भी वह अनर्थ कर रही है। नई पीढ़ी के लेखकों पर इसको कुचल कर समाप्त कर देने का उत्तरदायित्व है। हमारे देश के लेखकों पर विशेष रूप से उत्तरदायित्व है। हमारे देश का इतिहास बहुत पुराना है, हमारी संस्कृति बहुत समृद्ध है, हमारा इतिहास विपुल है और हमारा अनुभव अपार है। हम पराधीनता के पाश से अभी मुक्त हुए हैं, हमें राजनीतिक परवशता का दुःख मालूम है, हमें अधिक शोषण का कष्ट भी मालूम है, हमें सामाजिक वैधव्य की कठोरता भी मालूम है। हम इनके विरुद्ध खड़े होने के उत्तम अधिकारी हैं। सौभाग्यवश हम ऐसे पूर्वजों की सन्तान हैं जो धीरभाव से सोचने में, शान्तभाव से देखने में प्रसिद्ध हैं। इसीलिए हमारे ऊपर उत्तरदायित्व बहुत है। जब संसार सन्देह और शङ्का के बीच से गुजर रहा है, जबकि प्रबल का सदर्प संचार दुर्बल के चित्त में भीति और दुविधा का भाव भर रहा है, जब सारा संसार फिर से भयङ्कर युद्ध की ओर तीव्रगति से धावमान है, हमारे देश के लेखकों का दायित्व और भी बढ़ जाता है। हम सब प्रकार से मानवता, समता और स्वाधीनता के आधार पर संसार को नया प्रकाश देने के अधिकारी हैं और मनुष्य को नई संस्कृति देने के संकल्प के उचित पुरस्कर्ता हैं। संसार को इसी की आवश्यकता है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य

आज जब कि राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ है, हमारे मन में एक ही प्रश्न उठता है—"राजनैतिक स्वाधीनता की मंजिल तय कर लेने के बाद राष्ट्र के पुनर्निर्माण की योजना में क्या 'साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्वराज्य' के लिए भी कुछ स्थान रक्खा गया है?" ऐसे भी देश हो सकते हैं, जो राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन होने पर सांस्कृतिक दृष्टि से पराधीन हों। भारत के राजनैतिक नेताओं से हमारा सीधा सवाल यह है :—

"क्या आपने कोई ऐसी स्कीम भी सोची है, जिससे हम साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चीजों के लिए विदेशी भाषाओं तथा विदेशी ग्रन्थकारों के गुलाम न रहें?"

आज की हालत

तो यह है कि यदि हम अङ्गरेजी से हिन्दी अनुवाद करने बैठते हैं तो हमें कोई अच्छा कोष ही नहीं मिलता! 'विशाल-भारत' कार्यालय का दस वर्षों से हमारा काम अङ्गरेजी-बँगला कोष से चला और बन्धुवर हरिशंकर जी शर्मा—जो हमसे कई वर्ष पहले के लेखक हैं—अंजुमन तरक्किए-उर्दू द्वारा प्रकाशित अङ्गरेजी-उर्दू डिक्शनरी से अपना काम चलाते हैं! अँग्रेजी विश्व-कोष की तरह की पुस्तक निकालने में कम-से-कम पन्द्रह वर्ष लग जायँगे और सो तब, जब अभी से कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय।

हमने पढ़ा था कि युक्त प्रान्तीय सरकार सड़कों के निर्माण में ढाई करोड़ रुपया खर्च करने जा रही है। सड़कों को हम बहुत जरूरी चीज मानते हैं। निःसंदेह कची सड़कों को पक्की बना देने से जनता का बहुत हित होगा, पर सड़कों की बनस्पित हम मनुष्यों के मस्तिष्क को और भी महत्वपूर्ण समझते हैं। यदि युक्त प्रान्तीय जनता का मस्तिष्क ऊबड़-खाबड़ अवस्था में पड़ा हुआ है, उसमें कच्चे विचारों के झाड़-झंखाड़ उगे हुए हैं तो पक्की सड़कों पर मोटर-बसों में बैठकर भी वे अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेंगे। श्री संपूर्णानन्द जी ने संकटग्रस्त साहित्य-सेवियों के संरक्षण की बात कही है। तदर्थ

हम उनके कृतज्ञ हैं। देश के लिए अनाथालयों और मानसिक अस्पतालों की भी जरूरत है, पर उससे भी अधिक आवश्यक है ऐसे उपाय खोज निकालना, जिनसे लेखक स्वस्थ रह सकें और उन्हें स्वास्थ्यप्रद मानसिक भोजन भी मिलता रहे।

यह बात निर्विवाद है कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिये केवल स्कूली शिक्षा पर्याप्त नहीं। उससे क्षेत्र जरूर तैयार होता है, पर विचारों का बीज बोने वाले व्यक्ति आर्थिक संकट ग्रस्त अध्यापक समाज में कम ही उत्पन्न हो पाते हैं। जो अध्यापक छः घण्टे स्कूल में मगज-पची करके घर लौटते हैं, उनसे यह उम्मेद करना, कि वे बाकी बचे वक्त में स्थाई साहित्य की रचना कर सकेंगे न्यायसंगत न होगा। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि लेखक और पत्रकार, कवि और विचारक राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए उतने ही आवश्यक हैं, जितने स्कूल या कालिजों के अध्यापक। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हमारी राष्ट्रीय सरकारें लेखकों तथा पत्रकारों, कवियों या विचारकों के लिए कुछ सुविधाएँ प्रदान कर सकती हैं? सरकारों द्वारा आश्रित साहित्य-सेवी अमर साहित्य की रचना कर सकेंगे, यह तो हम नहीं मानते, बल्कि हम तो अपनी अनुभूति के बल पर दृढ़ता-पूर्वक कह सकते हैं कि प्रत्येक आश्रय, चाहे वह किसी पूँजीपति का हो या राजा महाराजा का, अथवा किसी स्वदेशी-विदेशी सरकार का, आखिरकार अनैतिकता तथा निर्बलता को ही उत्पन्न कर सकता है। राज्याश्रित कबीरदास तथा तुलसीदास की कल्पना नहीं की जा सकती। ओरछा के आश्रय में जब महाकवि केशवदास जी ही तुलसीदास जी की रामायण की तरह के किसी अमर ग्रन्थ की रचना नहीं कर सके तब क्षुद्राति-क्षुद्र बनारसीदासों से उसकी उम्मेद करना निरर्थक होगा। यदि संयुक्त प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रदेश में दसबीस हिन्दी कवियों और लेखकों को आश्रय मिल भी जाय तो उससे हमारे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रश्न हल नहीं होंगे। केन्द्रीय सरकार के अथवा प्रान्तीय सरकारों के सूचना-विभागों में भी सौ-पचास आदमी खप सकते हैं, पर मशीनों के उन निर्जीव पुर्जों से सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की उम्मीद करना महज खामखयाली होगी। रेडियो विभाग में दस-बीस को नौकरी मिल सकती है और सौ-दो—सौ को दक्षिणा, पर यह प्रयत्न कार्य के महत्व को देखते हुए नगण्य है।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या हमारी सरकारें साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को कुछ भी महत्व देती हैं? और उससे भी अधिक आवश्यक

प्रश्न यह है कि क्या हम लोग स्वयं अपने को कुछ महत्त्व देते हैं? जो अधिकांश में सार्वजनिक जीवन का निर्माण करते हैं और जिनके प्रचार के बलबूते पर देश के आन्दोलन चलते हैं वे भिखमंगों की तरह राजनैतिक नेताओं के सामने हाथ पसारें, इससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है? गम्भीर चिन्तन के बाद हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि साहित्य और संस्कृति के पौधे सरकारी बगीचों में नहीं उग सकते। यह कार्य तो यथासंभव पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति ही कर सकते हैं। रूसी लोग अपनी पंचवर्षीय योजनाओं से तुर्गनेव और टॉल्स्टाय या गोर्की पैदा नहीं कर सके और न कोई भी सरकार सप्तवर्षीय योजना से भी रवीन्द्रनाथ पैदाकर सकती है। जब कल्पनाशील व्यक्ति व्यवहार-कुशल आदमियों को साथ लेकर स्वतन्त्रता पूर्वक छोटे छोटे सांस्कृतिक केन्द्रों का निर्माण करेंगे और उनकी अखण्ड तपस्या से इस प्रकार के केन्द्रों की संख्या सैकड़ों सहस्रों पर पहुँचेगी, तब कहीं किसी महाकवि के आगमन के लिये क्षेत्र तैयार हो पावेगा। हमारा विश्वास इन छोटे-छोटे केन्द्रों में और उनके सामूहिक संघ में है, सरकारी सहायता में नहीं। पर साथ-ही-साथ हम यह भी मानते हैं कि लेखकों, कवियों और पत्रकारों में हमारे कितने ही बन्धु ऐसे हैं, जो सरकारी सहायता में विश्वास रखते हैं और उन्हें यह पूर्ण अधिकार है कि वे प्रयोग करके देख लें। अब तक सरकारों से जो मदद मिली है उसका एक बड़ा हिस्सा पूँजीपति प्रकाशकों की जेब में गया है। दो-चार हजार रुपये छोटे-मोटे फुटकर लेखकों या कवियों को भले ही मिल गये हों, जो ऊँट के मुँह में जीरे के समान है। हम तो इसी को बड़ी गनीमत समझेंगे कि अयोग्यों को आश्रय देकर अथवा पूँजीपतियों का संरक्षण करके हमारी ये सरकारें सात्विक वृत्ति के साहित्य-साधकों के पथ में काँटे न बिछा दें। यह हम नहीं कहते कि स्वाधीन-चेता लेखकों और राष्ट्रीय नेताओं के सम्मेलन से कुछ लाभ न होगा। सर्वश्री सम्पूर्णानन्द जी, डाक्टर महमूद, डाक्टर काटजू, आचार्य बदरीनाथ वर्मा और द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र प्रभृति कितने ही विचारशील पदाधिकारी ऐसे हैं, जो किसी भी व्यावहारिक जनोपयोगी आयोजना में सहायक हो सकते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते या नहीं कर पाते तो इसमें उतना उनका दोष नहीं है, जितना उनकी परिस्थितियों का है। जिनके हाथ में शक्ति होती है, उनके चारों ओर स्वभावतः ऐसे व्यक्ति इकट्ठे हो जाते हैं, जो स्वार्थ-साधन के लिए जनता के हितों का बलिदान करने-कराने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं।

युक्त प्रांतीय सरकार पत्रकारों की स्थिति की भी जाँच करने वाली है। यह प्रश्न गम्भीरतापूर्वक विचार करने का है। सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार विचारों की स्वाधीनता की घोषणा करे। यह असम्भव नहीं है कि हमारी सरकारों को विरोधी दलों के पत्रों के साथ वही नीति बर्तनी पड़े, जो ब्रिटिश-सरकार अब तक स्वाधीनता-प्रचारक पत्रों के साथ बर्तती रही है। एक पत्रकार की हैसियत से हमें अपनी सरकार का विरोध करना चाहिए, यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि समाजवादी अथवा विरोधी दल के पत्रों के प्रति कोई अन्याय हो रहा है। सभी सरकारें अपना प्रचार कराने के लिए खास-खास पत्रों अथवा पत्रकारों को विशेष सहायता, जिसे हम खुले शब्दों में रिश्वत कह सकते हैं, दिया करती हैं। स्वाधीन-चेता पत्रकारों को इस विषय में अत्यन्त सतर्क रहने की जरूरत है। क्या ही अच्छा हो यदि भारतीय भाषा संघ की फिर से स्थापना कर दी जाय और उसकी ओर से एक कमेटी नियुक्त हो, जो भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकारों से इस विषय में बातचीत करे। कमेटी में निम्नलिखित सदस्य रक्खे जा सकते हैं।

मौलवी अब्दुल हकसाहब, मौलाना सुलेमान नदवी साहब, सर राधाकृष्णन, श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, सरदार बहादुर माधवराव विनायक किबे, काका कालेलकर, डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीयुत के० एम० मुन्शी। श्रीमती सोफिया वाडिया और तैमिल तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के एक-एक प्रतिनिधि। यह कमेटी एक साहित्यिक सांस्कृतिक योजना तैयार कर सकती है।

वर्तमान परिस्थिति में हमें ऐसी स्कीम उपस्थित करनी चाहिए, जो व्यावहारिक हो और जिसमें राष्ट्रभाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न किया गया हो। यदि केन्द्रीय सरकार अभी इस आयोजना पर विचार न भी करे तो बिहार, युक्त प्रान्त तथा मध्यप्रदेश के मन्त्री लोग तो आपस में मिलकर विचार कर ही सकते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित प्रस्ताव उक्त कमेटी के सम्मुख रख सकते हैं।

(१) दक्षिण भारत की भाषाओं के अध्ययन के लिए दिल्ली में एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय।

(२) इम्पीरियल लाइब्रेरी की तरह की एक महान् लाइब्रेरी स्थापित की जाय, जिसमें देशी भाषाओं के ग्रन्थ रहें और जहाँ से ये ग्रन्थ कपवा

जमा कर देने पर उधार दिए जा सकें।

(३) भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अंग्रेजी विश्वकोष जैसे संदर्भ ग्रन्थों के निर्माण के लिए सहायता दी जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित किया जाय।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा पत्रकारों के लिए सुविधाएँ दी जावें। विदेशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(६) प्रान्तीय सरकारों द्वारा जनपदीय कार्य-क्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) पत्रकार-विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाय।

(८) देश के भिन्न-भिन्न पत्रकार-सङ्घों को उनके महत्त्व के अनुरूप समान रूप से सुविधाएँ दी जावें।

(९) प्रान्तीय सरकारें द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो और साहित्यिक संग्रहालयों को सहायता दी जाय।

(१०) साम्प्रदायिकता का विष दूर करने के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा एक संस्था की स्थापना की जाय।

(११) प्रान्तीय मंत्रि मण्डलों में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक मन्त्री अलग ही रक्खा जाय। साहित्य संगीत कला विभाग स्थापित हो। स्वर्गीय अरण्डेल ने अपने एक लेख में यह उपयोगी प्रस्ताव रक्खा था।

(१२) छोटे-छोटे सिपाहियों की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता-संग्रह का एक विस्तृत इतिहास लिखाया जाय, जो इक्कीस जिल्दों में छपे।

चूँकि अब राजनैतिक सङ्घर्ष समाप्त होने को है, देश के पुनर्निर्माण के प्रश्न हम सबके सम्मुख उपस्थित होंगे। कहीं पर बाँध बांधे जायँगे और बिजली पैदा की जायगी तो कहीं कृषि सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रयोग होंगे। बहुत सम्भव है कि संहारक अस्त्रशस्त्रों के निर्माण में हमारी स्वदेशी सरकार को करोड़ों खर्च करने पड़ें। विदेशी आक्रमणों से बचाव का बहाना लेकर सहस्रों बमवर्षक विमान और मशीनगनें बनाई जा सकती हैं। ऐसे अवसर पर देश को आवश्यकता है ऐसे विचारकों की, जो हमें बतला सकें कि जिस राष्ट्र को जन्म देने जा रहे हैं—या यों कहिए पुनर्जीवित कर रहे हैं—उसकी

आत्मा का रूप क्या होगा। प्राचीन संस्कृति का कितना हिस्सा सुरक्षित रहेगा और नवीन संस्कृति की क्या क्या बातें उसमें जोड़नी होंगी ? हमारी संस्कृति ग्रामीण होगी या शहरी ? शस्त्रास्त्रों की हिंसामयी बाढ़ में हमारी अहिंसा तथा अपरिग्रह की नौकाओं की कहाँ तक रक्षा हो सकेगी। इस महाद्वीप में जिन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम हुआ है, उनको संघर्ष से कैसे बचाया जाय, उनमें समन्वय कैसे स्थापित किया जाय ? रूस तथा चीन के प्रयोगों से हम क्या क्या लाभ उठा सकते हैं, यह प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय सम्भव है ? हमारा अनुमान है कि पन्द्रह-बीस वर्ष के अन्दर ही इस देश से निरक्षरता दूर हो जायगी। उस समय पाठकों की संख्या में कई करोड़ की वृद्धि हो जायगी। उनके लिए हमें अभी से कैसा साहित्य तैयार करना चाहिए ? क्या इन सब प्रश्नों पर सामूहिक रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है ? यदि देश के चुने हुए दस-पन्द्रह विचारक इन प्रश्नों पर अपनी सम्मति निश्चित भी करलें तो फिर उसको सर्वसाधारण तक पहुँचाने का काम क्या आसान है ? दरअसल हमें एक नवीन संस्कृति का निर्माण करना है। जो अराजकवाद का मौलिक तत्त्व है।

हिन्दी-भाषा-भाषियों की संख्या १४-१५ करोड़ कही जाती है, और जिन प्रान्तों में वे बस रहे हैं, वे एक दूसरे से सैकड़ों मील दूर हैं। इन करोड़ों आदमियों तक सांस्कृतिक सन्देश पहुँचाना, उनके बीच में ज्ञान का प्रकाश फैलाना अथवा यों कहिये कि उनमें साहित्यिक जाग्रति उत्पन्न करना किसी एक संस्था अथवा दस-बीस आदमियों का काम नहीं है। इस समय हम उन लोगों को छोड़ देते हैं, जिसकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है और जो उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में पढ़ रहे हैं। उनके प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं; पर उनमें से कितने ही सांस्कृतिक दृष्टि से हम से आगे बढ़े हुए हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि जितनी निरक्षरता हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में है, उतनी अन्य प्रान्तों में नहीं।

निरक्षरता निवारण के लिए जो उद्योग भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों ने किए हैं, उनका हमें स्वागत ही करना चाहिए; पर यह काम इतना भारी और इतना अधिक विस्तृत है कि सर्वसाधारण के हार्दिक सहयोग के बिना इसका पूर्ण या सफल होना सम्भव नहीं। और कोरमकोर साक्षरता-प्रचार से भी हमारा काम अधूरा रह जायगा। यदि अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने के बाद

जनता ने किस्सा तोता-मैना आठ भाग, किस्सा साढ़े तीन यार या छबीली भटियारिन पढ़ना शुरू किया, या 'एक रात में चालीस खून' का स्वाध्याय प्रारम्भ किया, तो किया-कराया सारा काम चौपट हो जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम लोग कार्यक्षेत्र को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट लें और फिर इन क्षेत्रों को जिम्मेवार कार्यकर्ताओं के सिपुर्द कर दें।

विभाजन का सिद्धांत

किसी तरह की गलतफहमी न हो, इसलिए प्रारम्भ में ही हमें एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए, वह यह कि यह विभाजन कार्य सुविधा की दृष्टि से किया जा रहा है। इसमें कोई भीतरी उद्देश्य नहीं है। उदाहरणार्थ यदि झाँसी और ग्वालियर के प्रान्त ब्रज साहित्य-मण्डल से सम्बद्ध रहकर अधिक साहित्यिक प्रगति कर सकते हैं, तो वे सहर्ष उससे सम्बद्ध हों। ब्रजमण्डल या बुन्देलखण्ड-मण्डल कोई राजनैतिक प्रान्त तो है नहीं। ये तो भाषा के खयाल से भिन्न-भिन्न भूमिखण्ड हैं, और यह भिन्नता भी ऐसी नहीं कि लकीर खींचकर कोई बता सके। हमारे कुछ आदरणीय मित्रों को इस बात की आशंका है कि कहीं इससे क्षुद्र प्रान्तीयता के भावों के फैलाने में सहायता न पहुँचे। ऐसे महानुभावों की सेवा में यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य तो प्रान्तीयता जैसे अपराधों को दूर करने के लिए किये जाते हैं, उनका उल्टा प्रभाव कैसे हो सकता है? यदि किसी मुहल्ले के रहने वाले अपने अपने घरों को स्वच्छ तथा सुन्दर बनाने के लिए उद्योग करें, तो क्या इससे यह आशंका की जा सकती है कि इससे घरेलू झगड़ों की वृद्धि होगी? विभाजन के सिद्धान्त के मूल में केवल एक चीज है, यानी साहित्यिक कार्य करने की सुविधा। मि० जिन्ना की तरह हम लोग इस देश के टुकड़े-टुकड़े करने थोड़े ही बैठे हैं।

वर्षों के अध्ययन और मनन के बाद हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि १५ करोड़ आदमियों की साहित्यिक भूख को मिटाने का काम न अकेला साहित्य सम्मेलन कर सकता है और न नागरी प्रचारिणी सभा ही। इन दोनों महान् संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण कार्यों की यथोचित प्रशंसा करना हम सबका कर्त्तव्य है। कौन ऐसा कृतघ्नी होगा, जो इनके महत्व से इन्कार करे? पर मुख्य प्रश्न यह है कि क्या हम अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक शक्ति को प्रयाग अथवा काशी या वर्धा में केन्द्रित करना पसन्द करते हैं? यदि हम ऐसा करेंगे,

तो हिन्दी के साहित्यिक शरीर को लकवा मार जायगा। जरूरत इस बात की है कि हमारे यहाँ जिले-जिले में और नगर-नगर में साहित्य सभाएँ और साहित्य-परिषदें तथा हिन्दी-समाज और नागरी-प्रचारिणी सभाएँ कायम हों। ज्योति तथा शक्ति का केन्द्र इन छोटी-छोटी संस्थाओं को बनाना चाहिए। बड़ी-बड़ी संस्थाओं का मुँह ताकते रहने से हम लोग परमुखापेक्षी तथा निर्बल ही बन जायँगे। सारा प्रश्न है decentralisation का— केन्द्रीय शक्ति को सम्पूर्ण हिन्दी जगत में व्याप्त करने का। राजनैतिक क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति अथवा एक समूह के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति दे देने का समर्थन इस कारण से किया भी जा सकता है कि हम लोग पराधीन हैं और हमें अपने विरोधियो के हाथ से सत्ता छीन कर स्वयं अपने घर का मालिक बनना है; पर साहित्य-क्षेत्र में ऐसी कोई बात नहीं है। और फिर कांग्रेस भी तो जिला, ताल्लुका और ग्राम कांग्रेस कमेटियों की स्थापना पर जोर देती आ रही है। आशा है कि इस प्रारम्भिक गलतफहमी को दूर करके हम अपने कार्य को अग्रसर करने में समर्थ होंगे।

यद्यपि हम कई वर्ष से इस बात के लिए आन्दोलन करते रहे हैं कि ब्रज साहित्य-मण्डल, बुन्देलखण्ड-साहित्य-मण्डल, अवध-साहित्य परिषद इत्यादि की स्थापना की जाय, और इस दिशा में पहले थोड़ा सा कार्य हुआ भी था, पर अभी तक यह कार्य सन्तोषजनक रूप से आगे नहीं बढ़ सका है। यहाँ पर यह बतला देना भी आवश्यक है कि दिल्ली के अधिवेशन में हिंदी साहित्य-सम्मेलन ने हमारे इस विभाजन सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार भी कर लिया था। अब वक्त आ गया है कि इस पद्धति के अनुसार आगे बढ़ा जाय। हम लोग इस उम्मेद में कि कभी सम्मेलन हमारी दशा पर करुणा करके इधर ध्यान देगा, कब तक बैठे रहेंगे? दूसरों को अपने कर्त्तव्य के पालन करने का उपदेश देने के बजाय यह कहीं अच्छा है कि हम लोग स्वयं अपने काम पर जुट जायँ। 'Be the man thou Seekest'—जिस आदमी की तुम तलाश कर रहे हो, वह खुद ही बन जाओ।'

क्षेत्रों की जांच

पहला काम जो हमें करना है, वह है अपने क्षेत्र की जाँच या सर्वे करना? यह जरूरत नहीं है कि हम एक साथ दस-बीस जिले ले बैठें। बेहतर तो यह होगा कि हम प्रारम्भ में दो-तीन जिलों में ही पारस्परिक साहित्यिक सहयोग स्थापित कर लें। पेश्तर इसके कि कोई काम शुरू किया जाय, यह

निहायत जरूरी है कि दो-तीन आदमियों का एक डेपूटेशन भिन्न भिन्न स्थानों की जाँच करके वहाँ की परिस्थिति को पहचान ले।

इन छोटे-छोटे केन्द्रों को स्वावलम्बी बनाना चाहिए। चन्दा करने का काम स्थानीय व्यक्तियों का है, और उन्हें साधारण जनता को साफ-साफ कह देना चाहिए कि भाई एक पैसा भी हम आपसे नहीं चाहते। आप खुद ही रुपया इकट्ठा करें और खुद ही व्यय करें। विशेष अनुनय विनय की भी आवश्यकता नहीं। मान लीजिए कि कोई स्थानीय संस्था इसी में अपना हित समझती है कि वह हमारे मण्डल से अलग ही रहे, तो उस पर किसी भी प्रकार का दबाव डालने की जरूरत नहीं। हम लोगों में एक बड़ा दुर्गुण है कि झट से एक दूसरे के सदुद्देश्यों में आशङ्का करने लगते हैं। "जरूर ही इसमें इनका कुछ स्वार्थ होगा, ये कोई न कोई भीतरी स्वार्थ लेकर आये हैं"—ऐसा कह देना हमारे आलोचकों के लिए बड़ा आसान है। ऐसे आदमियों से हमें स्पष्टतापूर्वक कह देना चाहिए—"जनाब, सौ बार गरज पड़े तो आप हमारे मंडल से संस्था को सम्बद्ध करायँ। हमें आपकी खुशामद नहीं करनी; अपना कोई मतलब नहीं गाँठना।"

कार्यक्रम

क्षेत्र की जाँच के बाद कार्यक्रम का सवाल आता है। कार्यक्रम में हम—(१) पुराने पुस्तकालयों को परामर्श, (२) नवीन पुस्तकालयों की स्थापना, (३) व्याख्यानमाला का प्रबन्ध, (४) साहित्यिक क्लबों की योजना और (५) साहित्यिक यात्राएँ आदि को ले सकते हैं।

बुलेटिन या पत्रिका

इस कार्य के लिए एक छोटी सी पत्रिका की जरूरत है, जो साइक्लोस्टाइल पर निकाली जा सकती है। वैसे कितने ही पत्र ऐसे हैं, जो सहर्ष हमारे समाचारों को और छोटे-मोटे लेखों को छाप देंगे। इन लेखों के रिप्रिन्ट लेकर भिन्न-भिन्न स्थानों को भेजे जा सकते हैं। नवीन पत्र निकालकर धन का अपव्यय करने की जरूरत नहीं।

अधिक आशा न की जाय

साहित्य सम्बन्धी कार्य बहुत धीरे-धीरे ही अग्रसर होते हैं, क्योंकि प्रायः साहित्य सेवी साधनहीन हैं और उनके पास इतना अवकाश भी नहीं कि वे अपनी जीविका चलाकर इस प्रकार के कार्यों के लिए भी अधिक शक्ति व्यय कर सकें। यदि हम साल दो साल में किसी आश्चर्यजनक परिणाम की

आशा करेंगे, तो अन्त में हमें नाउम्मेद होना पड़ेगा।

प्रेम का नियंत्रण

भिन्न-भिन्न संस्थाओं का सहयोग पारस्परिक सद्भाव पर ही निर्भर रहेगा। हाँ, इतना प्रबन्ध तो करना ही होगा कि पोस्टेज तथा कागज इत्यादि का व्यय केन्द्रीय संस्था को मिल जाय। जोर जबरदस्ती का तो कोई मामला है ही नहीं।

पदलोलुपता से बचा जाय।

प्रायः संस्थाओं में प्रधान, सेक्रेटरी इत्यादि के पदों के लिए झगड़े उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार की बदतमीजियों को रोकने के उपाय हमें प्रारम्भ में ही सोच लेने चाहिए। जो आदमी पदलोलुप हों, उन्हें हर्गिज कोई पद न दिया जाय।

हमें एक मुख्य उद्देश्य सदैव सम्मुख रखना चाहिए। केन्द्रीय संस्था का नियन्त्रण कम-से-कम हो और वह भी केवल परामर्श के रूप में। स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो।

सजीव व्यक्तित्व

हमें जिस चीज की जरूरत है, वह है सजीव व्यक्तित्व। संस्थाएँ तो पुरुष की छाया मात्र होती हैं। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में पहले का वह जमाना नहीं रहा, जब लोग बड़े दिन के अवसर पर जाग्रत होकर कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हो जाते थे और अपने को धन्य मान लेते थे, वैसे ही साहित्य क्षेत्र में भी अब युग-परिवर्तत होने वाला है, बल्कि यों कहिये कि हो गया है। यदि आप में इतना दम नहीं है कि साहित्य-क्षेत्र के लिए अपने समय और शक्ति का एक अच्छा भाग दे सकें, तो बेहतर है कि आप अपने घर पर बैठें और हिन्दी-माता की यथाशक्ति सेवा करते रहें। यह भी कोई छोटी बात नहीं, और आपके रचनात्मक कार्यों की हम प्रशंसा ही करेंगे पर साहित्य-क्षेत्र का नेतृत्व अब उन हाथों में नहीं रह सकता जो दान लेना ही जानते हैं, देना नहीं, और न वह रह सकता है उन बहुधन्धी नेताओं के कर-कमलों में, जो राजनीति और साहित्य इन दो घोड़ों की बग्घी में बैठकर बागडोर अपने ही हाथ में रखना चाहते हैं। हिन्दी-साहित्य में जमाना इस तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है कि २५ वर्ष के बजाय पीढ़ी अब १०-१२ वर्ष की होने लगी है। इसमें अपरिग्रही तथा निरन्तर दान शील व्यक्ति ही सजीव तथा स्फूर्तिमय रह सकते हैं।

कवीन्द्र का आदर्श

यदि किसी को देखना हो कि साहित्यिक व्यक्तित्व को कैसे सजीव रखा जा सकता है, तो उसे एक बार शान्तिनिकेतन जाकर कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन कर लेने चाहिए। ८० वर्ष की उम्र में भी वे कितने प्रगतिशील बने हुए हैं। सैकड़ों साहित्य-सेवियों के व्यक्तित्व के विकास में उन्होंने भरपूर सहायता दी है। नोबेल-प्राइज से मिला हुआ रुपया, किताबों की रायल्टी से मिला हुआ धन और उनकी जमींदारी की आमदनी बीसियों वर्षों से शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के लिए व्यय हो रही है। इसके सवाय बाहर से माँग-माँगकर उन्होंने अपनी इस प्रिय संस्था को पाला पोसा है। पूज्य महात्मा जी कहते हैं—"शान्तिनिकेतन भारतवर्ष है" और उनका यह कथन निःसन्देह सर्वथा सत्य है। कवीन्द्र की कविताओं को भले ही हम न समझें और उनके उच्च दार्शनिक विचारों को हृदयङ्गम करने में चाहे हमें कठिनाई हो; पर उनकी निरन्तर दानशीलता को तो प्रत्येक सहृदय व्यक्ति समझ सकता है।

भावना चाहिए

यह हम मानते हैं कि हर आदमी कवीन्द्र की तरह साधन-सम्पन्न नहीं हो सकता। और उन जैसे कवि तो सैकड़ों वर्षों में एकाध ही आते हैं। पर मुख्य प्रश्न इतना धन तथा योग्यता का नहीं है, जितना भावना का है। जिसके पास एक रुपया ही है, वह प्रेमपूर्वक उनमें से दो-एक आने ही दे सकता है। बड़ी थैलियों की नहीं, बड़े दिल की जरूरत है। क्या किसी छुटभइये कवि की रचनाओं में संशोधन कर देने में कुछ पैसा खर्च होता है? क्या नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने में रुपयों की जरूरत है? क्या समय-पर उत्साहप्रद पत्र भेजने के लिए बहुत पोस्टेज चाहिए? जो भी कवि या लेखक अपने प्रभाव को बढ़ाना चाहता हो, या अपनी कीर्ति को चिरस्थायी रखना चाहता हो, तो उसके लिए एक ही उपाय है, वह यह कि वह अपने छुटभइयों को—उन व्यक्तियों को जो साधनहीन हैं और साथ ही हमारे परामर्श के लिए उत्सुक हैं—बराबर आगे बढ़ाता रहे और उन्नति के सोपान पर जिस प्रकार वह चढ़ा है, उसके तौर तरीके तथा रंग-ढंग अपने अनुभव हीन बन्धुओं को बतलाता रहे। ऋषिवर एमर्सन ने साहित्य-सेवी का आदर्श बतलाते हुए कहा था :—

"Truth shall be policy enough for him. Let him open his breast to all honest inquiry, and be an artist superior to the tricks of art. Show frankly as a saint would do your experience, methods, tools and means. Welcome all comers to the freest use of the same. And out of this superior frankness and charity, you shall learn higher secrets of your nature, which gods will bend and aid you to communicate."

अर्थात्—"सत्य ही किसी साहित्य-सेवी के लिए पर्याप्त नीति है। जो भी आदमी ईमानदारी के साथ उससे कुछ पूछे, उसके सामने उसे दिल खोलकर रख देना चाहिए। उसे कलाकारों की कलाबाजियों से ऊपर उठकर साहित्य-स्रष्टा बनाना चाहिये। सन्त पुरुषों की तरह आप अपने तरीकों को, अनुभूतियों को, अस्त्रों को और साधनों को स्पष्टतया सबको बतला दीजिये कि वे उनका प्रयोग पूर्ण स्वाधीनतापूर्वक कर सकें। इस प्रकार की उच्चकोटि की स्पष्टवादिता और उदारता से आपको अपनी प्रकृति की गुप्त शक्तियों का पता लग जायगा और देवता लोग आपको अपने भावों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने में सहायता देंगे।'

हमारे साहित्यिक नेताओं के लिए—साहित्यिक बढ़भइयों के लिए—इस कथन में एक महान सन्देश छिपा हुआ है।

भ्रमणशीलता और प्रगतिशीलता

जो साहित्य-सेवी यह ख्याल करता है कि हम कोई परोपकार कर रहे हैं, वह गलत रास्ते पर है। खुद अपने व्यक्तित्व की सजीवता के लिए, जिन्दादिली बनाये रखने के लिए, उसे घूमने-फिरने की आवश्यकता है। इस प्रकार वह नवयुवकों के सम्पर्क में आकर अपने में नवीनता ला सकेगा।

निश्चित कार्यक्रम

पर ये यात्राएँ एक निश्चित कार्यक्रम के साथ होनी चाहिए। इस विषय में हमें सुसंगठित ढंग से काम करना चाहिए। यद्यपि इस समय हम लोग बड़े पैमाने पर कोई काम नहीं उठा सकते, तथापि तीन-चार व्यक्तियों की यात्राओं का प्रबन्ध करना मुश्किल न होगा। आगे चलकर हमारे साहित्य-सेवियों, कलाकारों और संगीत-विशारदों की ये यात्रायें क्या रूप धारण कर सकती हैं, इसके लिए हमें अमरीका की चाताकुआ-शिक्षा-पद्धति का आदर्श

सामने रखना चाहिये। अमेरिका में साधारण जनता के लाभार्थ चाताकुआ-शिक्षा पद्धति प्रचलित है। उसके द्वारा पत्र व्यवहार से स्थान स्थान पर ग्रीष्म विद्यालय खोलकर तथा भ्रमणशील समितियाँ स्थापित कर अमेरिका में शिक्षा-प्रचार होता है। प्रसंगवश हम उसकी भ्रमणशील समितियों का संक्षिप्त वृत्तान्त यहाँ देना उचित समझते हैं।

जनता में शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त चाताकुआ-सप्ताह की प्रथा भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। सबसे प्रथम वर्ष के दस दिनों तक होने वाले सम्मेलन की प्रथा को अधिक उपयोगी और अधिक लाभप्रद बनाने के लिए इस संस्था के संचालकों ने चाताकुआ-भ्रमणशील समितियों की स्थापना की। इस समय ऐसी समितियों की संख्या ८७०० तक पहुँच गई है। ये समितियाँ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के भिन्न भिन्न शहरों में खोली गई हैं। इन समितियों ने जनता में शिक्षा फैलाने में बहुत बड़ा भाग लिया है। प्रत्येक समिति वर्ष में आस-पास के ६ शहरों में एक ही तारीख में चाताकुआ-सप्ताह का समारोह करती हैं। इस समारोह के लिए प्रत्येक नगर में एक विशाल मण्डप बनाया जाता है, जिसे बहुत अच्छी तरह सुसज्जित किया जाता है। प्रतिदिन की कार्रवाई विशेष विद्वत्तापूर्ण, मनोरंजक और शिक्षाप्रद बनाई जाती है। सवेरे कई विषयों पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान कराये जाते हैं। दोपहर के बाद संगीत और वाद्यादि तथा रात को नाटक, प्रहसन, भिन्न-भिन्न खेल अथवा बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और प्रसिद्ध पुरुषों के विविध विषयों पर उपयोगी भाषण होते हैं। एक वक्ता एक शहर में एक दिन भाषण देकर दूसरे शहर में चला जाता है, और वहाँ भाषण देकर दूसरे दिन दूसरे शहर में चला जाता है, और वहाँ भाषण देकर तीसरे दिन तीसरे शहर में चला जाता है। इस तरह कुछ कार्यकर्ता ही छः शहरों में समाप्त समारोह मानने के लिए काफी होते हैं।

चाताकुआ में व्याख्यान देने के लिए अपने अपने विषय के प्रामाणिक विद्वानों, या योग्य वक्ताओं और उत्तम प्रचारकों को निमंत्रित किया जाता है। केवल अमेरिका के ही नहीं, यूरोप के विद्वान भी यहाँ व्याख्यान देने के लिए बुलाये जाते हैं। बड़े-बड़े विद्वान यहाँ व्याख्यान देने में अपना सम्मान समझते हैं। केवल उत्तम वक्ता और योग्य विद्वान ही नहीं, उत्तम नाटक और अभिनय प्रहसन आदि में अत्यन्त प्रवीण पुरुषों को भी निमंत्रित किया जाता है। वहाँ एक पुरुष एक सत्र (सेशन) में ऐसे अच्छे से अच्छे अभिनय, गान

और भिन्न-भिन्न वाद्य सुन सकता है, जिनकी उसने पहले कभी कल्पना भी न की होगी। सुप्रसिद्ध पहलवान आकर वहाँ लोगों को विविध प्रकार के व्यायाम आदि भी सिखाते हैं।

यह एक ऐसी संस्था है—ऐसा शिक्षण क्रम है—जिससे जनता की बौद्धिक और नैतिक उन्नति की जा सकती है। प्रसिद्ध अमेरिकन रूजवेल्ट ने इस अपूर्व शिक्षण-पद्धति के लिए कहा था कि "अमेरिका में सबसे अधिक अमेरिकन चीज यही है। यह एक व्यवहारिक पद्धति है। शिक्षाजगत में इसने क्रांति कर दी है। आज अमेरिका ही नहीं, यूरोप में भी इस पद्धति का पर्याप्त अनुकरण हुआ है।"

यह जरूरी नहीं है कि हम किसी पद्धति-विशेष का अन्ध-अनुकरण करें। कार्य करते-करते हमारी कार्य पद्धति का विकास स्वयम् ही हो जायगा। गरज कहने की यह है कि हमें अपने मस्तिष्क के कपाट बन्द न करने चाहिए और प्रकाश चाहे जिस देश से आवे, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।

बेजा शिकायत

यह शिकायत की जाती है कि लोग आलोचना करते हैं, कोई कार्यक्रम उपस्थित नहीं करते। हमारी समझ में यह शिकायत बेजा है। आज से ६ वर्ष ६ दिन पहले, यानी १ मार्च सन् १६३१ को, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्थायी समिति ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया था:—

"यह सम्मेलन हिन्दी-भाषा-भाषी जनता से प्रार्थना करता है कि वह आगामी वर्ष से बसन्त-ऋतु में बसन्त-व्याख्यान-माला का प्रबन्ध करे, और साहित्य-संगीत तथा कला इत्यादि की उन्नति के लिए इस ऋतु के महीनों का उपयोग सांस्कृतिक सप्ताहों के रूप में करे।"

"यह सम्मेलन स्थायी समिति से अनुरोध करता है कि वह बसन्त-व्याख्यान-माला के लिए उपर्युक्त कार्यक्रम तैयार करे और सम्मेलन की सम्बद्ध संस्थाओं तथा अन्य सभी समाजों की सहायता से उसे कार्य रूप में परिणत करे।"

इस प्रस्ताव के बाद आठ बसन्त-ऋतुएँ निकल गईं, और नवीं आज निकली जा रही है; पर अभी तक बसन्त व्याख्यान-माला का प्रबन्ध हम लोग नहीं कर पाये। कमी कार्यक्रम की नहीं कार्यकर्ताओं की है।

इंतजार किसका ?

अब हमें किसी का इन्तजार करने की जरूरत नहीं। हम लोगों में जितने

भी इस कार्यक्रम से सहमत हों, उन्हें आपस में मिलकर आगे बढ़ना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि बुन्देलखण्ड के चार-पाँच आदमी भी इस उद्देश्य को अपना लें, तो साल-दो साल के अन्दर ही कुछ उल्लेख योग्य काम कर दिखा सकते हैं। और यदि बुन्देलखंड तथा ब्रजमण्डल के कार्यकर्ताओं का पारस्परिक सहयोग स्थापित हो जाय, तब तो कहना ही क्या है। हम उस दिन की कल्पना कर रहे हैं, जबकि हमारे प्रान्तों के अलग-अलग साहित्य-मंडल होंगे और जिलों की भिन्न-भिन्न साहित्य-परिषदें। नगर नगर में हिन्दी पुस्तकालय तथा हिन्दी-समाज होंगे और ग्राम-ग्राम तक हिन्दी-साहित्य का सन्देश पहुँचेगा।

सदुद्देश्य से किया हुआ कोई कार्य कभी व्यर्थ नहीं जाता। जिस देश में भागीरथ २१ वीं पीढ़ी में गङ्गा को लाये थे, उसके निवासियों को निराश होने की जरूरत नहीं है। क्या संस्कृति की सुरसरि एक दिन में अथवा दो-चार वर्ष में ही इस महाद्वीप को सरस बना सकती है? क्या वटवृक्ष दो-चार दिन में उग सकता है? जो बीज आज हम बो रहे हैं, सम्भवतः वह कई वर्ष बाद अंकुरित हो और उसको पल्लवित होते-होते अनेक वर्ष लग जायँ हमें तो "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"—इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण में एक जगह बड़े महत्वपूर्ण वाक्य आये हैं :—

"चरैवेति चरैवेति"—चले चलो, चले चलो।

"चलने वाले की आत्मा फलग्राही होती है उसके सभी पाप मार्ग में नष्ट हो जाते हैं। चले चलो, चले चलो।"

"सोने वाला कलयुग है, जागने वाला द्वापर, उठ खड़े होने वाला त्रेता और चलते रहने वाला सतयुग होता है। चले चलो, चले चलो।"*

---

* यह लेख विशाल भारत में सन् १६४० में प्रकाशित किया गया था।

श्री आचार्य नरेन्द्रदेव—

वसुधैव कुटुम्बकम्

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात् यह मेरा है, यह पराया है, यह विचार लघु चित्त के लोगों को होता है किन्तु जो उदारचरित हैं वह सकल जगत् को कुटुम्बवत् मानते हैं। यह विचार कितने उदात्त और उदार हैं। इतिहास बताता है कि मानव का विकास इसी दिशा में हो रहा है। कबीले, बिरादरी, जाति, धर्म और राष्ट्र के स्तरों से गुजर कर अन्तर्राष्ट्रीय समाज के युग में हम प्रवेश कर रहे हैं। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वह सब साधन एकत्र हो रहे हैं। सारा संसार एक सूत्र में ग्रथित हो रहा है। आज की उथल-पुथल, आज का संघर्ष, आज का सांस्कृतिक और आर्थिक संकट—सभी एक नए समाज की सूचना देते हैं। आज की अनिश्चित अवस्था बहुत समय तक नहीं रह सकती। संसार एक नए सामंजस्य, एक नए संतुलन तथा समन्वय की ओर बढ़ रहा है। हम सन्धिकाल में रह रहे हैं। इसी कारण आज सन्देह, अविश्वास, दुचित्तापन पाया जाता है और कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के विनिश्चय में कठिनाई होती है। अतीत धीरे-धीरे धुन्धला पड़ता जाता है और वर्त्तमान के गर्भ से भविष्य का आविर्भाव हो रहा है। आज की मानव-वेदना तथा पीड़ा प्रसव-वेदना के समान है। बिना इसके दूसरे युग में संक्रमण नहीं हो सकता।

आज सारे संसार को एक सूत्र में ग्रथित करने के भौतिक साधन विपुल हैं। विज्ञान ने इन्हें सुलभ किया है। किन्तु जब तक मानव अपनी संकीर्णता का परित्याग नहीं करता, अपनी क्षुद्र गण्डियों और सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता, ससीम से असीम की ओर नहीं जाता, जब तक वह इन साधनों का समुचित उपयोग नहीं कर सकता। आज की सबसे बड़ी समस्या यही है। संसार को एक करने के साधन विद्यमान हैं किन्तु मानव हृदय और मस्तिष्क अभी तैयार नहीं है। अतिराष्ट्रीयता, सम्प्रदायवाद और जातिवाद के कारण

मनुष्य का मस्तिष्क एकदेशीय हो रहा है और इसी कारण राष्ट्र-राष्ट्र के बीच घृणा और विद्वेष फैला हुआ है। जिस यन्त्र की मनुष्य ने सृष्टि की वही उसको अभिभूत कर रहा है। मनुष्य ने विज्ञान द्वारा यन्त्र को अनुप्राणित किया और उसको सक्रिय बनाया, किन्तु उसकी विपुलता ने उसके हृदय और मस्तिष्क को मानो दबा दिया है। वह अपनी कृतियों को आत्मसात नहीं कर पाता है और अपने में सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। यही आज का सांस्कृतिक संकट है। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि इस संकट का भी अन्त होगा।

शुष्क विज्ञान बिना मानवीय मूल्यों की सहायता के समाज का कल्याण नहीं कर सकता। विज्ञान का उपयोग मंगल और कल्याण के लिए भी हो सकता है तथा नर संहार और संस्कृति के विनाश के लिए भी हो सकता है। यह सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं जो मनुष्य को हित अहित का ज्ञान कराते हैं और किसी निर्णय और विनिश्चय के करने में उसे समर्थ बनाते हैं। विज्ञान सार्थक तभी हो सकता है जब विज्ञान वेत्ता और उसका उपयोग करने वाले उच्च सामाजिक आदर्शों से प्रेरित हों। इसीलिए शिक्षा शास्त्रीयों का मत है कि विज्ञान के साथ साथ साहित्य, दर्शन आदि की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। बिना आधार के, बिना इस पृष्ठ—भूमि के, विज्ञान का दुरुपयोग होता है।

हमारी पुरानी संस्कृति में सर्वभूतहितरत की बात बार-बार आती है। हम चराचर जगत् को एक ही शक्ति से व्याप्त मानते हैं। आब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त एक ही अव्यय शक्ति का हम दर्शन करते हैं। हमारे मंगल वाक्य प्राणि मात्र के कल्याण की शुभ भावना करते हैं। तर्पण के मन्त्र इतने सुन्दर हैं कि वह सकल चराचर जगत् के संतर्पण के लिए प्रार्थना करते हैं। अद्वेष, मैत्री और करुणा योग की ऊँची भूमियाँ हैं। गीता में समत्व-योग की शिक्षा दी गई है। सब भूतों में एक अव्यय भाव को देखना और विभक्त में अवि-भक्त देखना सात्विक ज्ञान बताया गया है। गीता में कहा है कि जो ज्ञान एक में सक्त है वह तामसिक है। ईशोपनिषद् में कहा है कि जिस ज्ञान में सब चराचर जगत् एकता देखने वाले पुरुष को आत्मा ही प्रतीक होता है, उस ज्ञान में मोह और शोक कहां है।

यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद, विजानतः।
तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

हमको मानव का मानव की दृष्टि से आदर करना सीखना है। इसमें देश, जाति, वर्ण और लिंग का विचार नहीं होना चाहिए। इसीलिए उपनिषदों में कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नहीं है । किन्तु इस शिक्षा को हमने भुला दिया है। समत्व का भाव भी लुप्त हो गया है। हमारा सामाजिक सङ्गठन समत्व के आधार पर नहीं आश्रित है। इसमें जाति का तारतम्य है। वर्ण व्यवस्था का पुराना आधार नष्ट हो गया है। हम अपनी समाज व्यवस्था की यथावत रक्षा करते हुए दूसरी जातियों के साथ समता का भाव रखते थे। किन्तु आज राष्ट्रीयता का युग है और इसने इस भाव को दुर्बल भी करना आरम्भ कर दिया है। प्राचीन काल में जब आधुनिक राष्ट्रीयता न थी तब हमारे पूर्वजों ने विविध धर्मों में—यथा कुलधर्म, वर्णधर्म, श्रेणीधर्म, देशधर्म आदि में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की थी। आज समय बदल गया है। समाज के पुराने आधार और उद्देश्य खोखले पड़ते जाते हैं और समाज का एक नया रूप प्रगट हो रहा है। हमारी आवश्यकताएं बदल गई हैं और उनके साथ-साथ हमारे विचार और हमारी आकाँक्षाओं में परिवर्तन हो रहा है। साथ-साथ नये मूल्यों का भी अविर्भाव हो रहा है। अतः एक सामंजस्य की बड़ी आवश्यकता है। आज हमको राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में समन्वय करना है। इसके बिना शांति की स्थापना असंभव है। इस सम्बन्ध में विश्व कुटुम्ब की बात याद आती है। प्राचीन काल में यह एक भावमात्र था। इसकी पूर्ति के लिये साधन न थे। यातायात के साधनों की कमी के कारण देशों के पारस्परिक सम्बन्ध सर्वत्र नहीं हो सकते थे, और जो थे भी, वह दृढ़ न थे। ऐसी अवस्था में आचार-विचार की विविधता का होना स्वाभाविक था। अतः ऊंचे दर्जे के लोग ही इस आदर्श पर व्यक्तिगत व्यवहार में चल सकते थे। यह सामाजिक भाव नहीं बन सकता था और इसी लिए यह हमारे नैतिक जीवन का अङ्ग नहीं बन सकता था। आज हम धीरे धीरे राष्ट्रीयता तक पहुँच गए हैं। एक दृष्टि से देखें तो हम बहुत आगे बढ़ गए हैं। पुराने कबीलों और संप्रदायों की मनोवृत्ति को छोड़कर हमारी मनोवृत्ति राष्ट्रवादी हो गई है। एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोगों को हम अपना समझते हैं। इसकी दूसरी दिशा यह है कि अन्य देश के वासियों को हम पराया समझते हैं । उन देशों में कुछ हमारे लिए मित्र, कुछ शत्रु और कुछ उदासीन हैं। इस राष्ट्रवादने उग्ररूप धारण कर लिया है और इसी कारण यह राग-द्वेष चल रहा है।

जब तक समानता, सामाजिक माप और भ्रातृत्व के आधार पर एक नए समाज का संगठन न होगा, जब तक परस्पर के विद्वेष के कारण दूर न किए जायेंगे, तब तक विश्व कुटुम्ब की प्रतिष्ठा न हो सकेगी। यह असमानता आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक है। इसको दूर करने के लिए उदारचेता व्यक्तियों की आवश्यकता है जिनकी दृष्टि व्यापक है और जो समदर्शी हैं। यही नव-समाज का उपक्रम करेंगे और कल्याणकारी आन्दोलन की सृष्टि करेंगे। यही युग की माँग है और इसी कारण सब देश में ऐसे लोग पाए जाते हैं जिन्होंने इस आदर्श को अपनाया है और जो इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए यत्नशील हैं। तरह-तरह के आन्दोलन संसार में चल रहे हैं। कोई केवल नैतिक बल के आधार पर संसार को बदलना चाहता है, कोई शिक्षा के द्वारा ही लक्ष्य की प्राप्ति की आशा रखता है, कोई केवल सामाजिक परिस्थिति को बदल कर अर्थात् समाज के आर्थिक संगठन को बदल कर तथा शोषण के सब द्वारों को बन्द कर सफल होने की आशा प्रकट करता है। सब में कुछ न कुछ सत्य का अंश है। और यद्यपि मुख्य बात आर्थिक पद्धति के बदलने की है तथापि जब तक सब अस्त्रों का प्रयोग न होगा सफलता नहीं मिलेगी ? यह सच है कि सामाजिक परिस्थिति के बदलने से मनुष्य का स्वभाव बदलने बदलने लगता है। तथापि अनुभव बताता है कि व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा का भी बड़ा महत्व है। विश्व-कुटुम्ब की भावना का आधार विश्व-बंधुत्व है जिस प्रकार एक कुटुम्ब के सब सदस्यों का समान स्थान है और उनमें भाईचारा पाया जाता है और वहां यह विचार नहीं होता कि प्रत्येक अपनी-अपनी निजी कमाई के अनुसार ही सुविधाएँ पावें उसी प्रकार विश्व कुटुम्ब में छोटे बड़े राष्ट्रों में भेदभाव नहीं होगा, दुर्बल को सबल बनाने का प्रयत्न होगा और सकल संपत्ति किसी की अपनी न होकर सबकी समान रूप से होगी। यह एक नया सांस्कृतिक भाव है और यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो यह एक विश्वव्यापी विराट साँस्कृतिक आंदोलन है। इसके मूल में नए सामाजिक और अध्यात्मिक मूल्य पाए जाते हैं। पहले इस प्रयोग को किसी एक देश में सफल करके दिखाना चाहिए तभी यह विश्वव्यापी रूप ले सकता है।

पूर्वकाल में विश्व-बन्धुत्व का भाव अशरीरी था। केवल व्यक्ति ही इसको अपना सकते थे किन्तु इसको समाज में स्थूल रूप नहीं मिल पाता था। आज इस भाव को शरीर मिला है और वह साकार होकर समाज में उतर रहा है।

किन्तु उसके मार्ग में अनेक विघ्न बाधाएं हैं। जिस मात्रा में सामाजिक अवस्थाएं और पद्धतियाँ बदलती हैं उसी अनुपात में मानव नहीं बदलता। मानव परिवर्तन से घबराता है उसके पुराने संस्कार और विचार सुगमता से नहीं बदलते। इसलिए नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को बार बार बदलने में मनुष्य को कठिनाई प्रतीत होती है।

यद्यपि पुराने विचार जीर्ण शीर्ण तथा निरर्थक हो गए हैं तथापि वह बहुत समय तक अपना प्रभाव जमाए रहते हैं और इसी कारण स्थिति के अनुकूल होते हुए भी परिवर्तन नहीं हो पाता। संसार की गति विधि को देख कर मनुष्य आज आश्वस्त नहीं है। उसमें आन्तरिक मनोवैज्ञानिक स्थिरता नहीं है। वह आश्रयस्थान की खोज में है। समाज की कर्कशता और कठोरता उसको किसी नए लक्ष्य की खोज के लिए विवश करती है। वह नए मार्ग का अन्वेषण कर रहा है। संत्रस्त होने के कारण संमूढ़ हो जाता है और उस को दिशा विभ्रम हो जाता है। अनेक पन्थ उसको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कभी वह सुलभलाभ के लोभ में फंस जाता है और जीवन से पराङ मुख होकर व्यामोह को प्राप्त हो वस्तु स्थिति से पलायन करता है और अतीत की शरण में जाता है। वह यह भूल जाता है कि अतीत अपने पूर्व रूप में वापिस नहीं आ सकता। किन्तु अपरिचित भविष्य का भय उसको घेरे रहता है और उसे अकर्मण्य बना देता है। पन्थ भी अनेक हैं। इनके कई विभाग किए जा सकते हैं। इनमें कुछ परिवर्तन का विरोध करते, कुछ सामान्य परिवर्तन के पक्ष में होते हुए भी मौलिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। इनका विचार है कि सामान्य परिवर्तन करने से ही असङ्गतियाँ दूर हो सकती हैं। दूसरे वह हैं जो मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। विरोध इतना प्रबल हो जाता है कि बीच की श्रेणी विलुप्त होती जाती हैं। धीरे धीरे दो विचार एक दूसरे के विरुद्ध खड़े होते जाते हैं। एक परिवर्तन के विरोधी और दूसरे मौलिक परिवर्तन के समर्थन। हमारे देश में यह अवस्था अभी उत्पन्न नहीं हुई है। किन्तु आगे चलकर यहाँ भी हो जावेगी। यह इस बात की सूचना देता है कि उन लोगों की कमी होती जाती है जो थोड़े से परिवर्तन से संतुष्ट हैं। इंगलैंड के उदार दल का गायब हो जाना इसका अच्छा उदाहरण है। जब बीच की वृत्ति क्षीण हो जाती है तब संघर्ष और भी तीव्र हो जाता है। और दो प्रधान पक्षों में सुलह की आशा दूर हो जाती है।

जो लोग जागरूक हैं वह परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

यह परिवर्तन किस रूप में हो और उसके उपस्थित करने के क्या साधन और उपाय हैं, इस पर विचार किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि बिना किसी सामाजिक दर्शन के दिशा स्थिर नहीं हो सकती। एक सुव्यवस्थित और सुसंठित दार्शनिक पद्धति की आवश्यकता है जिसके आलोक में प्रत्येक समस्या का अनुसंधान किया जा सके। परिवर्तन का रूप वही स्थिर करेगा और आज के युग के उपलब्ध प्रभावशाली साधनों से काम लेना होगा।

पुराने विश्व-कुटुम्ब के भाव का गम्भीर दार्शनिक आधार था। वह केवल कोई नैतिक उपदेश न था। आत्मोपम्य के सिद्धान्त पर यह आश्रित था। ईशोपनिषद् में कहा है कि जो सब प्राणियों को अपने में देखता है, वह विजिगुप्सा नहीं करता। इसके लिये समत्व-योग की साधना बताई गई थी। अभ्यास के बिना यह सम्भव न था। नए विचार का प्रतिनिधित्व करने वाले को इस साधना की आवश्यकता है। किन्तु विश्व को वस्तुतः एक कुटुम्ब में परिवर्तित करने के लिये भिन्न उपायों की आवश्यकता है जिसमें बहु-संख्यक लोग सहयोग देंगे। पुरानी साधना व्यक्तिगत साधना थी। नवीन साधना दूसरे ढंग की है। इस नवीन साधना में भाव के साथ-साथ सद्विवेक और साहस की भी आवश्यकता है। उदार भाव तो मूल भित्तिमात्र है किन्तु इसके आधार पर जो प्रासाद निर्मित होगा उसके लिए विपुल सामग्री चाहिए। हमारा ज्ञान व्यापक और उत्कृष्ट होना चाहिए जो आज की अवश्यकताओं को समझे और जिसकी अग्नि में सकल संकुचित और संकीर्ण भाव तथा क्षुद्र स्वार्थ, ईर्षा और द्वेष नष्ट हो जाएँ। इस नए समाज का उपक्रम विद्याचरण सम्पन्न होंगे, इनमें कुशलोत्साह होगा, मानव मात्र के प्रति उनका अत्यन्त स्नेह होगा। वह प्रत्येक मानव के व्यक्तित्व के लिए आदर भाव रखेंगे। भवभूति के इस वाक्य को वह सार्थक करेंगे—'गुणाःपूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः'। उनका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक मनुष्य को आत्मविकास का पूरा अवसर मिले, समाज से शोषण का तथा युद्धों का अन्त हो।

इस कार्य के सम्पन्न होने में विलम्ब हो रहा है। कार्य अति दुष्कर है। उद्देश्य जितना महान है उसी के अनुरूप साधन भी चाहिए! सामान्य जन में नई चेतना जगाना है और शिक्षितों को पुनः शिक्षित करना है। विद्यालयों की शिक्षा को नया रूप देना है। उस के उद्देश्यों को युग के अनुरूप बनाना है। त्याग और तपस्या की भावना को सुदृढ़ करना है; एक ऐसा

व्यापक सङ्गठन बनाना है जो नए उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्न करे। आधुनिक शास्त्र और प्रचार का पूरा उपयोग करना है किन्तु जब तक विश्व बंधुत्व की भावना प्रबल नहीं होती तब तक कार्य सिद्ध नहीं होगा। यह उदात्त भाव ही नए समाज की अन्तरात्मा है, उसका सार और हृदय है।